CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वैदिक तथा वेदोत्तरकालीन

प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र

बी.बी. सिंह
टी.एस. पपोला

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वैदिक तथा वेदोत्तरकालीन प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र

•

इतिहास एवं आर्थिक चिन्तन के बीच सदैव पारस्परिक एवं प्रभावपूर्ण सम्बन्ध पाया गया है। जहाँ एक ओर काल विशेष की स्थितियाँ एवं समस्यायें तत्कालीन आर्थिक चिन्तन के स्वरूप एवं दिशा को प्रभावित करती हैं, दूसरी ओर आर्थिक विचार भी इतिहास की दिशा निर्धारित करने में योगदान देते हैं।

इस पुस्तक में ६०० ई० पू० और ६०० ई० के बीच के काल की आर्थिक प्रवृत्तियों एवं विचारों का अध्ययन प्रस्तुत है। अध्ययन वैदिक काल से आरम्भ होता है, जब समाज साधारण था। आर्थिक प्रणाली चारागाहों से कृषि-प्रणाली में परिवर्तित हो चुकी थी। शिल्पकारों का स्थान महत्त्वपूर्ण होने लगा था। राज्य-सत्ता परिवार, कुल तथा ग्राम पर आधारित थी। सेनापति तथा ग्रामपति चुने जाते थे। सभा तथा समिति प्रशासनिक इकाइयाँ थीं। देश छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था परन्तु एक चक्रवर्ती राजा होता था।

वेदोत्तरकालीन भारत आर्थिक विचारों के इतिहास में कौटिल्य (चाणक्य) के 'अर्थशास्त्र' (३२२ से २६८ ई० पू०) का ही मुख्य स्थान है। लगता है 'आर्थिक समस्या'

(शेष अगले फ्लैप पर)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वैदिक तथा वेदोत्तरकालीन

प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वैदिक तथा वेदोत्तरकालीन

प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र

•

बी० बी० सिंह

टी० एस० पपोला

•

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित

●

© सिंह एवं पपोला

●

प्रथम संस्करण : १९८२

●

लोकभारती प्रेस
१८, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा मुद्रित

मूल्य : २५.००

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रस्तावना

कई वर्ष पूर्व जब डॉ० वी० बी० सिंह और मैं लखनऊ विश्वविद्यालय में एम० ए० अर्थशास्त्र की कक्षाओं में "आर्थिक विचारों का इतिहास" विषय का अध्यापन करते थे, हमें यह विचार आया कि इस विषय के अन्तर्गत अधिकांश विश्वविद्यालयों में पाश्चात्य विचारों का तो पर्याप्त विस्तार में अध्ययन होता है, भारतीय आर्थिक विचारों का हमारी विषयवस्तु में समावेश भी नहीं हो पाया है। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण है विद्यार्थियों के लिये उपयोगी साहित्य का अभाव। इस कमी को पूरा करने के लिए हम लोगों ने भारतीय आर्थिक विचारों के इतिहास पर एक पुस्तक लिखने का निश्चय किया; 1967 में इस परियोजना का प्रारम्भ हुआ, परन्तु इस बीच मेरे लखनऊ से अन्यत्र अन्य कार्यों में व्यस्त हो जाने तथा डा० सिंह के कार्य क्षेत्र में बहुविध वृद्धि हो जाने के कारण इस पर कार्य धीमा पड़ गया। इस बीच प्राचीन भारतीय विचारो से सम्बन्धित तीन अध्यायों की पाण्डुलिपि तैयार हो चुकी थी और यह देखते हुए कि शेष कार्य व्यस्तता एवं लेखकों की दूरस्थता के कारण शीघ्र सम्पन्न होना सम्भव नहीं है, तैयार सामग्री को प्रस्तुत पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने का निश्चय किया गया। इसी बीच 1978 में नियति ने क्रूर प्रहार किया और डॉ० वी० बी० सिंह का अकाल ही निधन हो गया और शेष कार्य को सम्पन्न करने की सम्भावना प्राय: समाप्त ही हो गई। पुस्तक के प्रकाशन कार्य में थोड़ी-बहुत अनिश्चितता और शिथिलता आना स्वाभाविक था, परन्तु प्रकाशक ने अपना प्रयास जारी रखा जिससे डॉ० वी० बी० सिंह की आकांक्षा कम-से-कम आंशिक रूप में फलीभूत हो पायी और मुझे भी उनके सहयोग में किये गये प्रयास की स्मृति के रूप में इस पुस्तक को प्रस्तुत करने का अवसर मिला।

प्राचीन भारतीय इतिहास एक बृहद एवं बहुधा विवादपूर्ण विषय है। इस पुस्तक के लेखक इतिहासकार नहीं हैं, अतः मूल विषय पर किसी प्रकार की मौलिकता का दावा नहीं कर सकते। इस पुस्तक में मूलत: सामान्यतया स्वीकृत ऐतिहासिक तथ्यों एवं व्याख्याओं के आधार पर प्राचीन भारतीय विचारों के आर्थिक पहलुओं का विवरण एवं विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, लेखक

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अर्थशास्त्री हैं और उनका उद्देश्य विभिन्न मूल एवं अनुसंधानित स्रोतों से आर्थिक विचारों का संचयन करना रहा है, साथ ही साथ उनका यह मत है कि विचारों का समसामयिक आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों से गहन सम्बन्ध है, अतः प्राचीन भारत के आर्थिक विचारों एवं उनके परिवर्तनों को सम्पूर्ण सामाजिक संदर्भ एवं परिप्रेक्ष्य में आँकने की चेष्टा की गई है। एक सर्वाङ्गीण विचार-धारा में से आर्थिक विचारों का संचयन एवं तत्कालीन संदर्भ में उनका विश्लेषण एवं मूल्यांकन इस पुस्तक की विशेषताएँ हैं और इन्हीं में इसकी मौलिकता भी निहित है। कतिपय स्थानों पर इसी संदर्भ में पाश्चात्य तथा आधुनिक आर्थिक विचारों के साथ समुचित तुलना का भी समावेश किया गया है। आशा है कि पुस्तक आर्थिक विचारों के इतिहास के विद्यार्थियों एवं सामान्य पाठकों के लिये उपयोगी एवं रुचिकर सिद्ध होगी।

पुस्तक के कुछ अंशों एवं बिन्दुओं पर हमें स्वर्गीय डा० डी० डी० कौशाम्बी की राय से पत्राचार द्वारा लाभान्वित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। डा० वी० बी० सिंह द्वारा डा० आर० एस० शर्मा से बातचीत के फलस्वरूप कई पहलुओं पर हमें समुचित मार्ग निर्देशन प्राप्त हुआ; इलाहाबाद विश्वविद्यालय के डा० यू० एन० राय ने पांडुलिपि में कई सुधार सुझाए जिससे हम मूल पांडुलिपि की कई त्रुटियाँ भी दूर कर पाये। हम इन सभी विद्वज्जनों के आभारी हैं, पर साथ ही पुस्तक में जो त्रुटियाँ या कमियाँ अवशेष रह गई हों उनके लिये हम स्वयं उत्तर-दायी हैं।

लखनऊ **त्रिलोक सिंह पपोला**

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

परिचय

इतिहास एवं आर्थिक चिन्तन के बीच सदैव पारस्परिक एवं प्रभावपूर्ण सम्बन्ध पाया गया है। जहाँ एक ओर काल विशेष की स्थितियाँ एवं समस्यायें तत्कालीन आर्थिक चिन्तन के स्वरूप एवं दिशा को प्रभावित करती हैं, दूसरी ओर आर्थिक विचार भी इतिहास की दिशा निर्धारित करने में योगदान देते हैं। काल विशेष की समस्याओं के विश्लेषण एवं समाधान को ध्यान में रखते हुए आर्थिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता है। अतः समाज और अर्थ-व्यवस्था में ऐतिहासिक परिवर्तनों के साथ जब इन समस्याओं के स्वरूप में परिवर्तन आता है तो आर्थिक विचारधारा भी तदनुसार नये मोड़ लेती है और नये आयाम प्राप्त कर लेती है। इस पुस्तक में प्रस्तुत विश्लेषण मुख्यतया आर्थिक विचारों के इसी ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया का प्रतिपादन करता है।

इस पुस्तक में 600 ई० पू० और 600 ई० के बीच के काल की आर्थिक प्रवृत्तियों एवं विचारों का अध्ययन प्रस्तुत है। यह अध्ययन एक प्रकार से प्रारम्भिक है और साथ ही साथ मौलिक भी। हमारा अध्ययन वैदिक काल से आरम्भ होता है, जब समाज साधारण था। आर्थिक प्रणाली चारागाहों से कृषि-प्रणाली में परिवर्तित हो चुकी थी। शिल्पकारों का स्थान महत्त्वपूर्ण होने लगा था। राज्य-सत्ता परिवार, कुल तथा ग्राम पर आधारित थी। सेनापति तथा ग्रामपति चुने जाते थे। सभा तथा समिति प्रशासनिक इकाइयाँ थीं। देश छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था परन्तु एक चक्रवर्ती राजा होता था।

प्राकृतिक साधनों की सापेक्षिक बहुलता के फलस्वरूप आधुनिक अर्थ में 'आर्थिक समस्या' का उद्‌भव नहीं हुआ था। देश की रक्षा तथा धनोपार्जन हेतु भूमि, पहाड़, नदियाँ आवश्यक समझे जाते थे। परन्तु यह मानते हुए कि इन

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्राकृतिक साधनों का बगैर मानव शक्ति के शोषण नहीं किया जा सकता, जन-संख्या की वृद्धि की आवश्यकता पर बल दिया गया था। मानव शक्ति और उसकी उत्पादकता भौतिक उत्थान की कुंजियाँ मानी जाती थीं। दरिद्रता को पाप समझा जाता था। और धन उपार्जन एवं उपभोग मानव धर्म का एक मुख्य अंग माना जाता था। परन्तु धनोपार्जन के उचित तथा अनुचित ढंगों में भेद किया गया था। दीर्घकालीन सुख को लघुकालीन आनन्द से उत्तम माना गया है।

काम करने वालों को 5 वर्ग में विभक्त किया गया है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शिल्पकार तथा दास। कार्य करने की आदत की प्रशंसा की गई है, जबकि आलस्य की भर्त्सना। सामुदायिक उत्पादन को व्यक्तिगत उत्पादन की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। आर्थिक तथा सामाजिक उत्थान की इकाई की प्रशंसा की गई है। चूंकि उत्पादन का विधान सामुदायिक आधार पर है इसलिये लगान, मजदूरी, लाभ इत्यादि सम्बन्धी विचारों का अभाव है।

वेदोत्तर कालीन भारत आर्थिक विचारों के इतिहास में कौटिल्य (चाणक्य) के 'अर्थशास्त्र' (322 से 298 ई० पू०) का ही मुख्य स्थान है। कौटिल्य एक तरह से मैकेवेली (1469 से 1527 ई०) के गुरु माने जाते हैं। कौटिल्य कालीन भारत में समाज चार वर्णों में विभाजित एवं वर्णाश्रम धर्म के चार आश्रमों की आचार संहिता से प्रशासित था। लगता है 'आर्थिक समस्या' का प्रादुर्भाव हो चुका था, पर कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' इस समस्या पर बल देते हुए भी केवल आर्थिक विश्लेषण व नीतियों तक ही सीमित नहीं है। 'अर्थशास्त्र' में राजतंत्र के सभी पहलुओं पर विचार मिलते हैं।

'अर्थशास्त्र' में सर्वप्रथम संस्थापित एवं परम्परागत धर्म-प्रधान विचारों के विरोध में अर्थ-प्रधान विचारों का प्रतिपादन किया गया है। 'अर्थशास्त्र' शब्द का पहला अंग अर्थ है। कौटिल्य ने अर्थ, धर्म तथा काम में अर्थ को ही सर्व-प्रथम स्थान दिया है। सामाजिक विचारों के इतिहास में यह क्रान्तिकारी मोड़ है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में प्रधान आर्थिक विचार निम्न हैं: (1) सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार, (2) नियंत्रित अर्थ-व्यवस्था, (3) राज्य का सर्वोपरि महत्त्व, तथा (4) राज्य का कुछ विषयों पर एकाधिकार। इस प्रकार कौटिल्य मिश्रित अर्थ-प्रणाली के जन्मदाता कहे जा सकते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वेदोत्तरकालीन भारत राजनैतिक अस्थिरता से ग्रसित रहा है। कुछ ही शताब्दियों में अनेक वंशों—मौर्य, शुंग, कुषाण और गुप्त—के राज्य आये और समाप्त हुए। इस काल में अर्थ-प्रधान ग्रन्थों का अभाव मिलता है। जहाँ कहीं भी भौतिकवाद का उल्लेख मिलता है वह कौटिल्य तथा अन्य विचारकों की विचारधारा के खंडन-मंडन के संदर्भ में ही मिलता है। अर्थ-प्रधान के स्थान पर पुनः धर्म-प्रधानता आने लगी। चार पुरुषार्थों में अर्थ को धर्म की अपेक्षा गौण माना जाने लगा। परन्तु अर्थशास्त्र को न्यायशास्त्र एवं राज्यशास्त्र से अलग नहीं किया गया। साथ ही साथ धन की धारणा, धनोपार्जन की विधियाँ एवं उनके उद्देश्यों का प्रचुर उल्लेख मिलता है। पहले की ही तरह इस काल में भी उत्पादन का महत्त्व सर्वाधिक था। पहली बार कृषि प्रधान देश में किसानों का वर्गीकरण हल के स्वामित्व के आधार पर किया गया है। इस काल के विचारकों ने कृषि के उपयुक्त संचालन हेतु भूमि के प्रकार, कृषि की कार्य-विधि, वर्षा एवं बीज आदि के सम्बन्ध में अपने विचार विस्तृत रूप से प्रस्तुत किये हैं। इस प्रकार कृषि-अर्थशास्त्र का स्पष्ट विकास हुआ।

श्रम को उत्पादन का एक ओर तो साधन माना गया है और दूसरी ओर श्रम-कल्याण को उत्पादन का उद्देश्य। इसीलिये इस काल की विचारधारा में हमें श्रमिकों के संरक्षण एवं कल्याण के लिये प्राविधान की आवश्यकता पर स्पष्ट बल मिलता है।

दूसरी ओर राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में भी सुरक्षा एवं कल्याण के उद्देश्यों की स्पष्ट व्याख्या की गयी है। राज्यकोष की महत्ता दो दृष्टिकोण से बतलाई गई है : देश की आक्रमणों से सुरक्षा तथा जनता का कल्याण। दूसरी ओर करारोपण के आधारों का भी स्पष्टीकरण हुआ है। कर देय क्षमता तथा न्याय करारोपण के मूल सिद्धान्त माने गये हैं।

हम लोगों का इस पुस्तक में प्रयत्न रहा है कि इतिहास तथा अर्थशास्त्र के आन्तरिक सम्बन्धों की पृष्ठभूमि में आर्थिक विचारों का उल्लेख तथा उनकी आधुनिक अर्थशास्त्र से तुलना करें। प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा में हमारे प्रयत्नों की शृंखला की दूसरी कड़ी है यद्यपि यह ऐतिहासिक रूप से सबसे प्राचीनकाल से सम्बन्धित है। आधुनिक भारत की आर्थिक विचारधाराओं से सम्बन्धित

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दो पुस्तकों की योजना की गई जिनमें एक प्रकाशित हो चुकी है[1] और दूसरी का सृजन विचाराधीन है जिसका क्षेत्र स्वाधीनतोपरान्त विचारों का मूल्यांकन होगा।

आशा है कि यह पुस्तक इतिहास, अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र के विद्यार्थियों एवं सामान्य पाठकों का अपनी विषयवस्तु के सम्बन्ध में ज्ञानवर्धन करेगी और इस जटिल विषय के समझने में उपयोगी सिद्ध होगी।

लखनऊ
11 जून 1978

वी० बी० सिंह
टी० एस० पपोला

---

1. Singh, V. B., Naoroji to Nehru : Six Essays in Indian Economic Thought, New Delhi, 1976.

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुक्रम

वैदिक साहित्य में आर्थिक विचार / ९
वेदोत्तरकालीन विचारधाराएँ (1) कौटिल्य / ३१
वेदोत्तरकालीन विचारधारा / ७३

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय 1

वैदिक साहित्य में आर्थिक विचार

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वैदिक साहित्य में आर्थिक विचार

विषय-स्रोत

वेद एवं वैदिक साहित्य विश्व की प्राचीनतम साहित्य-निधियों में है। प्रागैतिहासिक कालीन सामग्री होने के कारण इन ग्रन्थों के रचना काल के विषय पर विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। सामान्यतया, वैदिक साहित्य का रचना काल 1500 ई० पू० से 600 ई० पू० के बीच माना जाता है।

साधारणतया संहिता—चार वेद—मात्र को ही वेद कहा जाता है। पर सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को, वैदिक विचारधारा के सन्दर्भ में; निम्न चार भागों में बाँटा जा सकता है। **संहिता :** चार वेद—ऋग्, साम, यजुर् तथा अथर्ववेद। (2) **ब्राह्मण :** ब्राह्मण ग्रंथों में वैदिक यज्ञों की विधि का विस्तृत वर्णन है। प्रत्येक संहिता से सम्बन्धित ब्राह्मण ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं : (अ) **ऋग्वेद** (ऐतरेय एवं सांख्यायन ब्राह्मण), (ब) **यजुर्वेद** (शुक्ल शतपथ ब्राह्मण तथा कृष्ण, तैत्तिरीय और आरण्यक ब्राह्मण), (स) **सामवेद** (ताण्ड्य ब्राह्मण), (द) **अथर्ववेद** (गोपथ ब्राह्मण)। (3) **उपनिषद् :** उपनिषदों का विषय दार्शनिक एवं ज्ञानकाण्ड है। इनकी कुल संख्या 108 बताई जाती है, पर अभी तक उपनिषदों में निम्न 12 ही महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं : बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, तैत्तिरीय-उपनिषद्, ऐतरेय उपनिषद्, कौषीतिकी उपनिषद्, केनोपनिषद्, कठोपनिषद्, ईशोपनिषद्, श्वेताश्वतर उपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद् तथा मैत्रायणोपनिषद्।

इस अध्याय में प्रस्तुत विश्लेषण उपर्युक्त मूलस्रोतों एवं इनसे सम्बन्धित साहित्य पर आधारित हैं।

राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक दशा

वैदिक आर्य "जनों" में विभक्त थे। उनमें मुख्य "पंचजन" थे। उनके नाम थे अणु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वसु और कुरु। ये सरस्वती के दोनों तटों पर रहते थे। चूंकि ये जन कालान्तर में पृथक्-पृथक् टोलियों में आये थे और इनके निवास स्थल भी भिन्न-भिन्न थे, अतः इनका पारिवारिक जीवन काफी संघर्षमय था। यह

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

संघर्ष न केवल एतद्देशीय अनार्यों के साथ रहा, परन्तु स्वयं आर्यों के आभ्यंतरिक द्वेष भी कम न थे।[1] आर्यों के पारस्परिक संघर्ष के उदाहरण के रूप में ऋग्वेद में वर्णित भरतों के राजा सुदास और विश्वामित्र के मंत्रों से लड़ने वाले दस राजाओं के संघ के बीच युद्ध हैं। किन्तु आर्यों को अनेक भयानक युद्ध भारत की अनार्य जातियों, जिनको वे "दस्यु" और "दास" कहा करते थे, से करने पड़े। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि आर्यों और अनार्यों की सभ्यता में बड़ी विषमता थी। अनार्यों ने आत्म-रक्षार्थ भीषण संघर्ष किए पर आर्यों की शक्ति के आगे जंगलों और पर्वतों की शरण ली और इन्हीं से आर्यों की वर्ण-व्यवस्था में "शूद्र" नाम से चतुर्थ श्रेणी बनी।

वैदिक राष्ट्र-शक्ति की आधारशिला थी उसका सराहनीय सामाजिक एवं राजनीतिक संगठन। संगठन की मूलभूत इकाई थी "कुल" या "गृह"। गृह-समूह मिलकर "ग्राम" का, ग्राम-समूह मिलकर "विश" का और विश-समूह मिलकर "जन" का निर्माण करते थे। साधारण जनता युद्ध में नेत्तृत्व और शांति में रक्षा करने के लिए "राजा" को स्वयं चुनती थी। सेना का अध्यक्ष "सेनानी" और ग्राम का अध्यक्ष "ग्रामणी" कहलाता था। "पुरोहित" राज-परिवार का एक महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी होता था जो राजा के युद्धानुष्ठानों एवं अन्य कार्यों में सफलता की मंगल-कामना करता था। सभी जन-वृद्धों द्वारा निर्मित "सभा" और साधारण जनता द्वारा निर्मित "समिति" राजा की शक्ति एवं इच्छा पर नियंत्रण रखती थी, वह निरंकुश न था। साधारणतया छोटे-छोटे राज्य थे, परन्तु युद्धों एवं दस्यु-मय वातावरण के कारण संगठन शक्ति की आवश्यकता का अनुभव कर साम्राज्य का भी सूत्रपात होने लगा था।

विवाह के अनिवार्य और अटूट बंधन में आबद्ध नर-नारी सुखी गृहस्थ जीवन बिताते थे। साधारणतया एक पत्नी-विवाह की प्रथा थी किन्तु बहुपत्नी-विवाह से भी लोग अनभिज्ञ न थे। बहुपतिक और बाल-विवाह नहीं होते थे। समाज में नारी का स्थान पुरुष के समकक्ष था। उनकी शिक्षा का भी प्रबन्ध समान था। वे यज्ञों में भाग लेती थीं, किं बहुना अपाला, विश्ववारा, घोषा और लोपामुद्रा जैसी कितनी ही नारियाँ मंत्रद्रष्टा होकर ऋषि-पद प्राप्त कर चुकी थीं। पति और पत्नी के अतिरिक्त परिवार के सदस्य होते थे—माता-पिता, भाई-बहिन, और पुत्र-पुत्री आदि। ये सदस्य परस्पर स्नेह, प्रेम, श्रद्धा और त्याग-वृत्ति से अनुप्राणित

---

1. डॉ० भगवत शरण उपाध्याय, प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ 29

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

थे, कभी वैमनस्य हो जाने पर सम्पत्ति का विभाजन कुल विभाजन के अनुसार हो जाता था।

आर्य सूती और ऊनी दोनों प्रकार के रंग-बिरंगे वस्त्र धारण करते थे, इनको सोने के तारों द्वारा सुईकारी कर अत्यधिक आकर्षक बनाया जाता था। वेद मंत्रों में वर्णित विशेष वस्त्र हैं अधोवस्त्र, नीवी, उत्तरीय और शाल। कुण्डल, हार, कंगूर और मणिबन्ध आदि आभूषणों से वे अपने को सुसज्जित करते थे। नारियाँ अनेक वेणी रखती थीं। वे तेल डालकर बालों में कंघी करती थीं। श्मश्रु रखने की परम्परा थी, आर्य छुरे से दाढ़ी बनाना जानते थे।

आर्य-जीवन कृषिप्रधान था। जौ और सम्भवतः गेहूँ मुख्य खाद्यान्न थे। उनके आहार में फलों और तरकारियों का बाहुल्य रहता था। सम्भवतः आर्यगण मांसाहारी भी थे। भेड़-बकरी का माँस खाया जाता था। आर्य आसवपायी थे। वे "सोमरस" पान करते थे। "सोम" वस्तुतः क्या वस्तु थी इस पर मत-वैभिन्य है किन्तु इतना निर्विवाद है कि यह कोई मादक वस्तु थी। इसी कारण ऋषि लोग इसका प्रयोग जब-तब वर्जित करते थे।

दुन्दुभि, मृदंग और वीणा आदि वाद्य-घोषों से समाहित नृत्य-गान का अत्यधिक प्रचलन था जिसमें नर-नारी सहभागी होते थे। रथ-धावन और अश्व-धावन विहार के साधन थे। द्यूतक्रीड़ा परमप्रिय थी। जीवन प्रसन्न और सुखी था। प्रारम्भ में आर्यों का जीवन युद्धाच्छादित था। वे आखेटप्रिय थे। धनुष-बाण, भाले, बर्छे, परशु आदि से सुसज्जित सेना युद्ध के समय रण-घोष करती थी। शत्रु-शस्त्रों से रक्षार्थ वे कवच धारण करते थे। पशु-पालन और कृषि आर्यों की प्रमुख वृत्ति थी। वे गाय, बैल, अश्व, भेड़, बकरी, कुत्ते और गदहे पालते थे और हलों से जुताई कर जौ, गेहूँ और तिल आदि अन्न उपजाते थे। कुओं और सरिताओं से सिंचाई करते थे। वैसे कहीं-कहीं ऋग्वैदिक ऋचाओं में सामुद्रिक यात्रा का आभास मिलता है लेकिन मुख्यतया उनका नाविक जीवन नदियों तक ही सीमित था।

आर्थिक विचार

ज्ञान तथा विज्ञान के विस्तृत सागर वैदिक साहित्य में हर प्रकार के इह-लौकिक तथा विशेष रूप से पारलौकिक विषयों पर पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। पर भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए आर्थिक साधनों के उपयोग सम्बन्धी विषयों का अपेक्षाकृत सीमित विवरण ही प्राप्त होता है। राजकीय कार्य-विषयक विवरणों के सम्बन्धः में बाद के लेखकों—कौटिल्य आदि ने अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का प्रतिपादन किया है पर वेदों तथा उनसे सम्बन्धित साहित्य में इस सन्दर्भ-विशेष में भी कोई सुसम्बद्ध आर्थिक विचारधारा का दिग्दर्शन नहीं होता। आर्थिक विचारों के इस अपेक्षाकृत अभाव को सामान्यतया प्राचीन भारतीय मस्तिष्क के ईश्वरवाद और इहलौकिक सुखों की उपेक्षा का परिणाम बताया जाता है। पर तत्कालीन भारतीय विद्वज्जनों के विचारों की इस स्थिति को हम स्वतःनिर्मित या आत्मजात नहीं मान सकते। वेदों तथा वैदिक साहित्य में इहलौकिक, भौतिक एवं आर्थिक विषयों पर उतना बल नहीं दिया गया, इस बात को गलत नहीं ठहराया जा सकता। पर प्रश्न यह उठता है कि भारतीय मस्तिष्क मौलिक रूप से ही इस प्रकार का क्यों था? सम्पूर्ण मानव समाज की ही भाँति भारतीय समाज में भी भौतिक सुखों की अधिकतम प्राप्ति एवं धन संचय की प्रेरणा क्यों नहीं थी? क्या भौतिक सुखों की प्राप्ति की लालसा एवं धन-संचय की प्रवृत्ति पाश्चात्य व्यक्तित्व का ही विशेष गुण है? वास्तव में भारतीय मानव विश्व के किसी भी अन्य मानव के समान ही था, मानवजाति की एक सामान्य प्रवृत्ति है—धन-संचय और सुखों में वृद्धि करने की। परन्तु यह प्रवृत्ति परिस्थितियों के अनुसार कम या अधिक तीव्र हुआ करती है। आज हम जिसे 'आर्थिक समस्या' (Economic Problem) कहते हैं, अर्थात् सीमित साधनों को असीमित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उचिततम रूप में उपयोग में लाने की समस्या, इस का अस्तित्व अनादि काल से इसी तीव्रता के साथ सदैव रहा है, यह बात सत्य नहीं है। यह कहा जा सकता है कि प्रागैतिहासिक काल में न केवल भारत में परन्तु विश्व भर में इससे विपरीत समस्या का अस्तित्व रहा हो, अर्थात् समस्या इस प्रकार रही हो कि असीमित साधनों का किस प्रकार सीमित उद्देश्यों (आवश्यकताओं) की पूर्ति में उपयोग किया जाय और इस समस्या के अस्तित्व के अर्थ हैं "आर्थिक समस्या" का अभाव। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक नहीं, और शायद सम्भव भी नहीं कि मानव मस्तिष्क आर्थिक विषयों के अध्ययन पर अधिक जोर दे। वैदिककालीन भारत में भूमि की कोई कमी नहीं थी, जो इस बात से स्पष्ट है कि वेदों में हमें कहीं भी भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का उल्लेख नहीं मिलता और व्यक्तिगत स्वामित्व तथा अधिकार से सम्बन्धित नियमों का विधान उसी स्थिति में आवश्यक माना जा सकता है जबकि माँग पूर्ति से अधिक हो जाय। देश की सुरक्षा एवं समृद्धि के लिए पर्वतों एवं नदियों का बाहुल्य भारत की अमूल्य निधि रही है जिनका वेदों में

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

स्पष्ट उल्लेख है[1]। ऋग्वेद में, भारत की उस समय की 99 नदियों का उल्लेख मिलता है[2]। इन समस्त नदियों द्वारा सींचे जाने वाली ऋग्वैदिक भारत-भूमि का विस्तार उत्तर में मेरठ तथा कुमायूँ क्षेत्र, पश्चिम में अम्बाला, जालन्धर, लाहौर, रावलपिण्डी, पूरा पंजाब (विभाजन से पहले का) एवं अफगानिस्तान से पूर्वी भाग तक, दक्षिण में सारस्वत समुद्र तथा पूर्व में तिब्बत तक फैला बताया गया है[3]। इस प्रकार वर्तमान भारत की सम्पूर्ण उपजाऊ भूमि पर तथा उसके बाहर भी ऋग्वैदिक भारत का विस्तार था। जनसंख्या के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल में भारत में जनशक्ति की न्यूनता ही रही होगी अन्यथा विवाह के अवसर पर वर-वधू को कम से कम दस पुत्रों के माता-पिता होने का आशीर्वाद न दिया जाता। इन सब बातों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक भारत में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता थी। आर्थिक समस्या का प्रश्न अपेक्षाकृत महत्त्वहीन था। शायद वैदिक समाज निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था में था। गीगर का कहना है कि हमें ऋग्वेद की ऋचाओं में एक मौलिक प्रारम्भिक मानव जीवन की ऐसी झाँकी प्राप्त होती है, जिसमें विदेशी प्रभाव नहीं है, बल्कि जिसका प्रादुर्भाव अभी-अभी प्रकृति की गोद में हुआ है। यहाँ पर प्रत्येक तत्त्व अपनी प्रारम्भिक निर्माणात्मक अवस्था में है न कि तैयार और अन्तिम रूप में।[4]

---

1. उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत्।
(यजुर्वेद, 26-15)

2. नवानां नवतीनां विषस्य रोपुषीणाम् (ऋग्वेद, 1-91-13)
नव च यन्नवतिं च स्त्रवन्तीः (ऋग्वेद, 1-33-14)

3. Bhargava, M. L. The Geography of Rigvedic India, U. I. P. H. Ltd., Lucknow, pp. 129-30.

4. Very differently from all others of the oldest literature known to us which show new forms rising in the ruins of a past sunk in oblivion...., we have in these hymns the picture of an original primitive life of mankind, free from foreign influences, not restored in new forms from the distinction of the past, but springing forth new and young from the bosom of Nature,—a spiritual form still unspoiled in word and deed; and that which

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इस प्रकार एक ऐसे समाज में जहाँ प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता हो, जनसंख्या न्यून हो, विकास पुनर्निर्माणात्मक न होकर प्रारम्भिक व मौलिक हो, "आर्थिक समस्या" सम्बन्धी प्रश्न निस्सन्देह ही गौण हो जावेंगे और साहित्य में भौतिक और आर्थिक विचारों के सापेक्षिक अभाव की यही व्याख्या हो सकती है।

धन की उपासना

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वैदिक ऋषि भौतिक सुख एवं कल्याण की भावना से अनभिज्ञ थे। सार्वजनिक कल्याण एवं सुख की चाह से प्रेरित निम्न-लिखित सुभाषित का उद्‌गम वेदों के अतिरिक्त और कहीं नहीं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

वैदिक परम पुरुष तथा अन्य आराध्य देवों की उपासना विभिन्न दृष्टिकोणों से की गयी है। वेदों के रचयिता कवि के लिए यह दैविक स्वरूप, नैतिक विधान, शारीरिक तथा भौतिक विधान का स्रोत तथा मौलिक जीवन का सिद्धान्त है। पूजाकार के लिए वह भौतिक सम्पत्ति का स्रोत, स्वयं पूजाकार या बलिदान स्वरूप है। दार्शनिक के लिए वह संयम का स्रोत, अनेकों में एक तथा परम-ज्ञान है। जब वेदों का पूजाकार परम पुरुष या किसी अन्य देव को भौतिक सम्पत्ति का स्रोत मानकर उसका पूजन करता है तो उसे यह बात स्पष्टतया ज्ञात है कि कल्याण तथा भौतिक सुख का साधन भौतिक समृद्धि अथवा धन ही है। यद्यपि ब्राह्मण के लिए धन-लोलुप होना महान पाप माना गया है, पर संसार में कोई देश ऐसा नहीं जहाँ पर कि अपने परिवार के पालन-पोषण करने का कर्त्तव्य भारत की अपेक्षा अधिक समुचित रूप से निभाया गया हो। धन चाहे वह

---

everywhere else we see only as complete and finished here presented in process of formation. Therefore, in these hymns lies the key to understanding not only the subsequent development of the Indians........but also from the unity of nature recognised in the whole process of development of our race............"

Geiger, L., Quoted by Adolf Kalgi, Life in Ancient India, Calcutta, 1950, pp. 37-38.

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पशुरूप[1] में हो या किसी अन्य रूप में, सदा वांछनीय माना गया है। ऋग्वेद में विभिन्न प्रकार के धन की वांछनीयता, तथा निर्धनता की बुराइयों का उल्लेख विभिन्न देव-वंदनाओं में मिलता[2] है।

वेदों में समृद्धि के बहुत से गुण बताये गये हैं जिनसे पता चलता है कि वैदिक साहित्य में धन की धारणा सर्वजनहित से विशेषकर सम्बन्धित थी। धन और कल्याण दोनों को परस्पर सम्बद्ध माना जाता था। यह बात इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि समृद्धि के लक्षणों के रूप में जो पदार्थ बताये गये हैं उनका उपभोग एवं कल्याण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अन्न, पशु, दुग्ध, आरोग्य आदि सभी पदार्थ समृद्धि के सूचक[3] माने गये हैं। इन्द्र[4], अग्नि[5] एवं पूषन् से पूजा के

1. ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल में पशुओं के रूप में ही धन की गणना होती थी। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि जैसा कि हम अभी देखेंगे, वैदिक लोगों का मुख्य व्यवसाय पशुपालन ही था।

   सनिद्वाजं विप्रवीरं तरुत्रं धनस्पृतं शूशुवांसं सुदक्षमः।
   दस्युहनं प्रमिदमिन्द्र सत्यमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥
   (ऋ० 10-47-4)

   अश्वावंतं रथिनं वीरवन्तं सहस्रिणं शतिनं वाजमिन्द्र।
   मद्रव्रातं विप्रवीरं स्वषमिस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥
   (ऋ० 10-47-5)

   गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगंः वर्चः पृथिवी नौ दधातु।
   निधिं विभ्रति बहुधा गुहा वसु मणि हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ॥
   (अथर्व० 12-1)

2. अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे।
   शिरिम्बिठस्य सत्वमिस्तेमिष्ट्वा चातयमासि ॥ (ऋ० 10-155-1)

3. उपहूता इहगावः उपहूता अजावयः।
   अथोऽन्नस्य कीलालं उपहूतो गृहंसुन ॥
   उपहूता भूरिधनः सखाय स्वाह सन्मुदः।
   अरिष्टा सर्वपुरुष गृहानः सन्तु सर्वदाः ॥ (अथर्व/पैप्पलाद 3-25-26)

4. ऋग्वेद 2-21-6
   त्वे ह यत् पितराश्चिन्न इन्द्र विश्वा वाना जरितारो असन्यन्।
   त्वे गावः सुदुघास्ते ह्यश्वास्त्वं बसु देवयते वनिष्ठः (ऋ० 7-18-1)

5. अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाग्नेऽहं।
   गृहपतिना भ्रयसि सुगृहपतिरच्वं ॥ (यजुर्वेद 2-27)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

समय इन्हीं की याचना गृहस्थ की समृद्धि के लिए की गयी है। इसके अतिरिक्त वीरों, पुत्रों एवं धान्य की भी याचना[1] इहलौकिक समृद्धि के लिए की गयी है।

वास्तव में, सूक्ष्म दृष्टि से देखने में यह प्रतीत होता है कि वेद मनुष्य जीवन को उसकी पूर्णता में स्वीकार करते हैं। जीवन के किसी एक पहलू का अन्य पहलुओं की अपेक्षा अत्यधिक महत्त्व समझा गया हो यह बात नहीं है, जीवन के विभिन्न आदर्शों और पहलुओं के बीच समुचित सन्तुलन ही वेदों के ज्ञान का रहस्य है। पारलौकिक एवं आध्यात्मिक आदर्शों को बल देते हुए वेदों में मानव जीवन के ऐहिक कर्त्तव्यों एवं सुखों की उपेक्षा नहीं की गयी है। जहाँ एक ओर ईश्वर या परमपुरुष को सम्पूर्ण विश्व में जीवन का स्रोत मानकर, मानव जीवन का अन्तिम उद्देश्य उसी में विलीन हो जाना माना गया है, वहीं, दूसरी ओर इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख है कि ईश्वर के द्वारा असीमित भौतिक व प्राकृतिक साधन मानव द्वारा भोग करने के लिए प्रदान किए गये हैं। इस प्रकार वेदों की विचारधारा में ऐहिक और भौतिक सुखों[2] को भी यथोचित स्थान प्राप्त है।

इसलिए वेदों में मनुष्य द्वारा धन का संचय करना और उसका उपभोग करना मनुष्य जीवन का उपयुक्त कर्त्तव्य माना गया है। पर इन सब प्रक्रियाओं को कुछ नियमों तथा सिद्धान्तों के अनुसार ही उपलब्ध और उपभोग किया जा सकता है। इन नियमों के विरुद्ध धन कमाना अवांछनीय माना गया है। ऋग्वेद में इस बात का स्पष्ट उपदेश दिया गया है कि द्यूतक्रीड़ा आदि अनैतिक विधियों के द्वारा धन प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए और ऐसे लोगों को खेत में जाकर कृषि करने, पशुओं का पालन करने और अपनी गृहस्थी चलाने को आहूत किया गया है[3]। इसके अतिरिक्त इस बात को स्पष्ट रूप से कहा गया है कि

आगन्म विश्ववेदसभस्मभ्यं वसुवित्तमम्।
अग्ने सम्राभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥ (यजु० 3/38)

1. सुप्रजा प्रजाभिः स्यां सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः।
नर्य प्रजां मे पाहि शस्यपशून्मेपाह्यथर्य पितुं में पाहि ॥ (यजुर्वेद 3/37)

2. इस परम्परा का निर्वाह कालांतर में भी हुआ है। उदाहरणार्थ अशोक के अभिलेख में—"इहा नाजि सुखाययामि परत्रा च स्वर्गं आराधयन्तु।"

3. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिम् इत् कृषस्व
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

धन के विषय में विचार करना और उसे प्राप्त करने की इच्छा रखना उत्तम है, पर यह सब केवल वैध तरीकों से ही किया जाना चाहिए। धनप्राप्ति की उचित और अनुचित विधियों की पहचान के लिए व्यक्ति को अपनी अन्तरात्मा से प्रश्न करने तथा उसके उत्तर को बुद्धि और ज्ञान की सहायता से समझने की चेष्टा करनी चाहिए[1]। इसके अतिरिक्त जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात धन को अर्जित करने के सम्बन्ध में ऋग्वेद में कही गयी है वह यह कि दूसरों के सहारे जीवित नहीं रहना चाहिए। पूजाकार वरुण से प्रार्थना करता है "हे राजन् (वरुण) मुझे दूसरे के द्वारा अर्जित धन के आश्रय पर न रहने दें"[2] परन्तु वृद्ध माता-पिता का ऋण चुकाना है[3]।

घन प्राप्ति और समृद्धि के लिए इन सब आकांक्षाओं और नियमों के साथ ही हमें वैदिक साहित्य में—कम से कम उपनिषदों में—इस बात का प्रमाण मिलता है कि वैदिक ऋषि अल्पकालीन और दीर्घकालीन दृष्टिकोणों में दृश्यमान द्वन्द्व की सम्भावना से परिचित थे। आधुनिक अर्थशास्त्र में, विशेषकर, विकास—अर्थशास्त्र (Growth Economics) में हमें कई बार इस प्रकार के द्वन्द्वों का सामना करना पड़ता है। उदाहरणार्थ अल्पकाल में उपभोग में वृद्धि की जाय या कुछ समय के लिए उपभोग की वृद्धि को अपेक्षाकृत कम महत्त्व देकर पूंजी का निर्माण कर दीर्घकाल के लिए समृद्धि के साधनों को जुटाया जाय। इस प्रकार

तत्र गावः कितव तत्र जाया
तन्मे विचष्टे सवितायम् अर्थः। (ऋ० 10-34-13)

1. परि चिन् मर्तो द्रविणं ममन्याद्
ऋतस्य पथा नमसा विवासंतु।
उत स्वेन क्रतुना सं वदेत्
श्रेयांसं दक्षं मनसा जगृम्यात्। (ऋग्वेद 10-31-2)

2. माहं राजन्न् अन्यकृतेन भोजम् (ऋग्वेद 2-28-9)

3. पूर्ववयसि पुत्राः पितरमुपजीवन्ति।
उत्तमे वयसिपुत्रान् पितपरोपजीवंति ॥ (गोपथ ब्राह्मण 1-4-17)
स्वस्तिमात्र उत पित्रे नो अस्तु (अथर्व० 1-31-4)
यदापिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितोऽधयन।
एवत्तदग्ने अनृणो अमाम्यहतापितरौ पयो। (यजुर्वेद 19-11)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

की द्वन्द्विक समस्या का बहुत सुन्दर उदाहरण हमें कठोपनिषद्[1] में प्राप्त होता है। नचिकेता के द्वारा सत्य के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न किए जाने पर यमराज उत्तर देता है : "किसी वस्तु का अच्छा होना एक बात है और उसका आनन्दायक होना दूसरी बात। अनेक उद्देश्यों के आधार पर मनुष्य इन दोनों प्रकार की बातों के वशीभूत रहता है। इन दोनों में वही व्यक्ति कल्याण की प्राप्ति कर सकता है जो "अच्छे" को अंगीकार करता है। जो आनन्द की ओर भागता है वह असफल होता है। सुख (अच्छा) और आनन्द दोनों ही मनुष्य को प्राप्त हो सकते हैं। बुद्धिमान इनको पहचान करता है और आनन्द को स्वीकार करता है। बुद्धिहीन, तात्कालिक सुख के लिए आनन्द की ओर भागता[2] है।" इस प्रकार के विचार वास्तव में आर्थिक विषयों के सन्दर्भ में नहीं प्रकट किए गये हैं परन्तु इनका तार्किक महत्त्व अर्थशास्त्रीय विषयों के वाद-विवाद के सम्बन्व में भी उतना ही है जितना कि मोक्ष या मुक्ति प्राप्त करने के मार्गों के सन्दर्भ में।

धन के स्रोत : विभिन्न व्यवसाय

अथर्ववेद में मातृभूमि सूक्त के अन्तर्गत देश के लोगों को पाँच प्रकार[3] का कहा गया है—विद्वान, शूरवीर, व्यापारी, कारीगर और दास। परन्तु इनके अन्तर्गत वैदिक भारत के मुख्य व्यवसायों पशुपालन एवं कृषि के विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। धन की गणना पशुओं के रूप में किये जाने तथा देवताओं से पशुओं की प्राप्ति की याचना करने, आदि तथ्यों से यह प्रतीत होता है कि आजीविका तथा धनोपार्जन का मुख्य साधन पशुपालन था परन्तु कृषि भी एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय था। वेदों की बहुत-सी ऋचाओं में इस प्रार्थना का अंश निहित है कि, "हमें गोधन से समृद्ध[4] करो"। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

---

1. (1-2-1)
2. यह हिन्दी अनुवाद डा० राघवन द्वारा किये गये अंग्रेजी रूपान्तर के आधार पर किया गया है। (See Raghavan op. cit., pp. 56-76)
3. यस्यापन्नं व्रीहियैव यस्वा इया पचंकृष्टयः।
   भूम्यं पर्जन्यपल्यै नामोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ (अथर्ववेद 12-1-42)
4. याः सरूपा विरूपा एकरूपा यासामग्निरिष्ट्या नामनि वेद।
   या अङ्गिरसस्तपसेह चक्षुस्ताभ्यः पर्जन्य महि श्मे मच्छ ॥
   (ऋग्वेद 16-169-2)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का विचार है कि, "आर्यों का मुख्य धन गाय-घोड़े और भेड़-बकरियाँ थीं। वह कुछ खेती भी करते थे, क्योंकि जौ का सत्तू और रोटी उनके आहार में शामिल थे। अधिक धनी और प्रभुताशाली आर्य अपने पशुपालन और कृषि में दासों और दासियों से सहायता लेते थे। आखिर पचास-पचास दासियों और दासों को रखने का क्या प्रयोजन हो सकता था? पर, साधारण स्थिति के आर्य स्वयं कृषि और पशुपालन किया करते थे[1]।" पशुपालन वैदिक आर्यों का मुख्य व्यवसाय था, यह कथन इस बात से सिद्ध होता है कि वेदों की ऋचाओं में हमें बार-बार गाय, घोड़े, बकरी, बैल आदि की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ मिलती हैं। इन सब में दुधारू गायों की याचना तो सबसे अधिक की गई है।

पशुपालन के अतिरिक्त वैदिककालीन अर्थ-व्यवस्था में कृषि को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। लोगों को द्यूतक्रीड़ा में समय बर्बाद न कर कृषि करने के लिए आह्वान किया गया है[2]। वामदेव ऋषि बैलों व नरों के सुखी होने और सुखपूर्वक कृषि करने की कामना की है[3]। इसके अतिरिक्त उन्होंने "सीता" (सीता लाङ्गलपद्धतिः) की वंदना की है, जिससे कृषि की महत्ता के सम्बन्ध में ऋग्वैदिक विचारों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है[4]। कृषि का व्यवसाय सामान्यतः अल्पविवेक वाले व्यक्तियों एवं गँवारों का व्यवसाय न होकर, उन युवकों के लिए विशेष रूप से उचित समझा जाता था जो इसे सम्मानित व्यवसाय समझें और कृषियोग्य भूमि, बीज आदि के सम्बन्ध में उचित ज्ञान रखते हों। ऋग्वेद के

दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्ध्रिर्योषा।
जिष्णू रथेष्ठाः........................जायताम्॥ (यजुर्वेद 22/22)

1. राहुल सांकृत्यायन, ऋग्वैदिक आर्य, इलाहाबाद, 1957, पृष्ठ 34
2. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
   तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्में विचष्टे सवितायमर्यः॥
   (ऋग्वेद 10-34-13)
3. शुनं वाहाः शुनंभरः शुनं कृषतु लांगल।
   शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिगय॥ (ऋग्वेद 4-57-4)
4. अर्वाची सुभगे नवसीते वन्दोमहे ता।
   यथा नः सुभगाससि यथा नाः सुफलाससि॥
   इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूसानु चच्छतु।
   या नः यमस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां सर्मा॥ (ऋग्वेद 4-57-4)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुसार भूमि को उसके उपजाऊपन के आधार पर तीन प्रकार का बताया गया है : अर्तना, अवस्वती तथा उर्वरी[1]। इसी प्रकार ऋग्वेद में भूमि के गुणों के महत्त्व का भी वर्णन मिलता[2] है। शतपथ ब्राह्मण में कृषि कार्य की चार अवस्थाओं का वर्णन है[3]—जुताई, बुवाई, कटाई और सफाई। इसी प्रकार से विभिन्न प्रकार के हलों का उल्लेख मिलता है—जो क्रमशः छः, आठ और बारह बैलों द्वारा चलाये जाते थे[4]।

वैदिक ऋचाओं में कृषि कार्य के सम्बन्ध में इसी प्रकार के अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक आर्य न केवल कृषि करते थे बल्कि उनका कृषिगत ज्ञान भी विस्तृत तथा सुसम्बद्ध था। कृषि कार्यों को नियोजित रूप से सम्पन्न करना तथा उसमें जिन साधनों की आवश्यकता थी, उनकी उत्कृष्टता का ध्यान बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। कृषि को समुचित आयोजित रूप में किया जाय, यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम देखते हैं कि कृषि कार्य के आरम्भ में "क्षेमपति" की पूजा का विधान बनाया गया है[5]। इस पूजा को अग्रायण की संज्ञा दी गई। इसके पश्चात् ऋग्वेद में गहरी जुताई के महत्त्व पर भी प्रकाश डाला गया है। इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि समुचित वर्षा के हो जाने पर कई बार गहरी जुताई सम्भव हो सकवी है।

---

1. सहिं शर्घो न मारुतं तुविष्यणिरप्नवलीषुर्वरास्विष्ट निरार्तनास्विवटनिः। आबद्धव्यान्याददिर्यज्ञस्य केतुरर्हणा। अघं समास्य हर्षतो हृषीवतो विश्वे जुषन्त पन्थां नरः शुभे न पन्थाम् (ऋग्वेद 1-127-6)
2. वपन्तो बीजमिव धान्याकृतः पृचन्ति सोमं न मिन्नति बप्सतः ॥ (ऋग्वेद 10-94-13)
3. कृषनतो हस्त्रेव पूर्ववपन्तो यन्ति लुनन्तो अपरे मृणवन्तः। (श० ब्रा० 1-6-1-3)
4. सद्रयोगं सीरं—आहु : (अथर्व 8-9-16)
   सीरं युनक्ति षडत्रवं भवति। (श० ब्रा० 13-8-26)
5. युनक्त सीरा वि युगा तनुष्वं कृते योनौःवपतेह बीजम्।
   गिश त्रुष्टिः समरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पवकमेयात् ॥
   सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्।
   धीरा देवेषु सुम्न्या। (ऋग्वेद 10-101-34)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कृषि की उन्नत दशा का आभास हमें कतिपय मंत्रों में प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ कई मंत्रों में वर्ष भर में कई फसलों के उगाये जाने और विभिन्न प्रकार के अन्नों के उगाये जाने का स्पष्ट विवरण मिलता है।[1] देवताओं द्वारा यज्ञ में तीन प्रकार के पदार्थों का हवन किया गया—बसन्त ऋतु में उत्पन्न पदार्थ, ग्रीष्म ऋतु में उत्पन्न पदार्थ और शरद ऋतु में उत्पन्न पदार्थ।[2] इससे स्पष्ट होता है कि वर्ष भर में तीन फसलों के होने का ज्ञान वैदिक ऋषियों को अच्छी तरह से था। यजुर्वेद में यज्ञ के माध्यम से व्रीहि, यव, माष, तिल, मूंग, गेहूँ, मसूर, चना, काँगनी, चीनक, मक्का, कोदों तथा नीवार आदि धान्यों की याचना की गयी है[3] जिससे स्पष्ट होता है कि ऋषियों को विभिन्न प्रकार के अन्नों की कृषि का पूर्ण ज्ञान था।

कृषि एवं पशुपालन के अतिरिक्त व्यवसायों की सूची में उद्योगों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। परन्तु उद्योगों में उत्पादन का आकार लघु एवं संगठन पारिवारिक तथा कुटीर आधार पर था। विभिन्न प्रकार की कलाओं एवं शिल्पों के विकास के सम्बन्ध में ऋग्वेद में कहा गया है कि इनके द्वारा निर्धनता का निराकरण और सम्पन्नता की प्राप्ति की जा सकती है।[4] विभिन्न शिल्पों में कारीगरों की नियुक्ति या वितरण उनकी रुचि एवं स्वभाव को ध्यान में रखकर करने का उपदेश देते हुए वैदिक ऋषियों ने श्रम-साधन के

---

1. अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा।
यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि॥
क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मि धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
मधुश्चुतं श्रुतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मूलयन्तु॥
मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नोभवत्वंतरिक्षम्।
क्षेत्रस्य पतिमर्धुमान्नो अस्त्यरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम॥ (ऋग्वेद 4-57)

2. यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धवि॥ (ऋ० 10-90-6)

3. व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्चमे, तिलाश्चमे, मुद्गाश्चमे, खल्वाश्चमे, पियंगवश्चमे, डपवश्चमे, श्यामाकाश्चमे, नीवाराश्चमे, गोधूमाश्चमे, मसूराश्चमे, यडोन, कल्पताम्। (यजुर्वेद 18-12)

4. यदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्।
तदा रमस्व दुर्हणां तेन गच्छ परस्तरम्॥ (ऋग्वेद 10-155-3)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के उचिततम उपयोग के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।[1] इस प्रकार के विभिन्न उद्योगों में ऊनी वस्त्र उद्योग, अस्त्र-शस्त्र निर्माण, धातु उद्योग, काष्ठ उद्योग, वास्तुकला एवं भवन निर्माण मुख्य कहे जा सकते हैं। कताई और बुनाई का कार्य मुख्यतया घरों में ही स्त्रियों द्वारा किया जाता था। ऋग्वेद में इस प्रकार बुने गये कपड़े के विभिन्न प्रकारों का वर्णन है।[2] ऋग्वेद में गांधारी बकरी के ऊन के सुन्दर वस्त्र[3] एवं उसको बनाने की उत्कृष्ट विधि[4] का वर्णन भी प्राप्त होता है।

उत्पादन के साधन

कृषि एवं पशुपालन मुख्य व्यवसाय थे और उद्योगों का कुटीर आधार पर संचालन होता था। इसी कारण वैदिक भारत में पूंजी का महत्त्व उत्पादन के साधन के रूप में अपेक्षाकृत नगण्य रहा है। यह इस बात से स्पष्ट है कि भूमि की महत्ता और प्रशंसा के बारे में तथा जनसंख्या एवं मानव-श्रम के महत्त्व के सम्बन्ध में हमें विस्तृत विचार वेदों में प्राप्त होते हैं पर पूंजी के सम्बन्ध में ऐसे विवरण नहीं मिलते। वैसे तो भूमि की महत्ता पृथ्वी की माँ के रूप में उपासना से अधिक स्पष्ट रूप में मिलती है, पर उपासना से सम्बन्धित सूक्तों में यह भी स्पष्ट होता है कि भूमि को ऐश्वर्य-प्रदायिनी शक्ति एवं उत्पादन के साधन के रूप में भी देखा जाता था। अथर्ववेद के मातृभूमि सूक्त के अन्तर्गत कहा गया है कि "जिस मातृभूमि में उद्यमशील तथा शिल्पचातुरी में निपुण निजी परिश्रम से खेती करने वाले हुए हैं, जिस भूमि में चार दिशाएँ और चार विदिशाएँ चावल गेहूँ आदि उपजाती हैं। जो अनेक प्रकार से, प्राणधारण करने वालों और चलने-फिरने वालों का धारण-पोषण करती है, वह हमारी मातृभूमि हम सबों का गोएं और

---

1. नानानं व उ नो धियो वि व्रतानि अनानाम्।
तक्षारिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परिस्त्रव॥
(ऋग्वेद 9-112-1)

2. आधषिमाणाया पतिः शुचायाश्च युचस्य च।
वासो वायोवीनामा वासांसि मर्मृजत्॥ (ऋग्वेद 10-26-6)

3. उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथा।
सर्वाहमस्मि रोमशा गान्धारीणामिवाविका॥ (ऋ० 1-126-7)

4. स सूर्यस्य रश्मिमः परि व्यत तन्तुं तन्वानास्त्रवृतं यथा विदे।
नयन्तृतस्य प्रशिषो नवीयसीः पतिजेनीनामुपयाति विष्कृतम्॥
(ऋग्वेद 9-86-32)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अन्नादि प्रदान कर धारण-पोषण करें।"[1] स्पष्ट है कि यहाँ पर भूमि की उपासना उसकी उपयोगिता के आधार पर की गयी है।

वैदिक साहित्य में श्रम को समुचित स्थान प्राप्त है। मनुष्य उद्योग करे, परिश्रम करे, अकर्मण्य न रहे, तभी समृद्ध हो सकता है। "जागते रहना, उद्यम एवं पुरुषार्थ समृद्धि के लक्षण है और आलस्य में सोये रहना दरिद्रता का लक्षण[2] है।" "हे देव, हमें व्यर्थ की वार्ता, आलस्य एवं निद्रा से बचाओ।"[3]

"ईश्वर उनकी सहायता करता है जो आलस्य का त्याग करते[4] हैं" "ईश्वर उसका मित्र है जो श्रम करता[5] है" या "श्रम से ही विजय प्राप्त होती है।"[6] आदि कथन इस बात को स्पष्ट प्रमाणित करते हैं कि श्रम की महत्ता कर्मों की सफलता हेतु सर्वोपरि है और आलस्य एवं प्रमाद पापतुल्य माने गए हैं। श्रम की महत्ता तथा सम्मान के सम्बन्ध में हमें अन्य उदाहरण सेवकों के साथ किये जाने वाले व्यवहार के सन्दर्भ में मिलते हैं। वैदिक युग में सेवक परिवार का ही सदस्य माना जाता था। गृहपति से पहले भोजन करने की प्रथा[7] इसका स्पष्ट प्रमाण है। स्वामी और सेवक के भोजन पदार्थों में कोई भेद नहीं था।[8] इस प्रकार श्रमिक और सेवक को आज की भांति हेय या उपेक्षित नहीं माना जाता था बल्कि वेदों के मतानुसार वे समाज के एक आवश्यक एवं सम्मानित अंग हैं।

---

1. यस्याश्चतस्र प्रदिशः पृथिव्या यस्मामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
   या विभर्ति बहुधा प्राणदेजत्सा नो भूमिगोवक्ष्यशे दधातु ॥
   (अथर्व० 12-1-4)
2. भूत्यै जागरणं अभूत्यै स्वपनं। (यजु० 30-17)
3. त्रतारो देवा अधि वोचता नो मानो निद्रा ईशत मोतजाल्पे।
   (ऋग्वेद 8-48-14)
4. इच्छति देवा सुन्वन्तं न स्वप्राय स्पृहयति। (ऋग्वेद 8-2-18)
5. न कृते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। (ऋ० 4-33-11)
6. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहित। (अथर्व० 7-52-8)
7. स्वेसु मृत्येसु चैवाहि।
8. अघं स केवलं भुक्ते ये पचत्यात्मकारणम्।

2

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उत्पादन संगठन :

उत्पादन-कार्य करने के लिए वैदिक काल में कोई भी प्रणाली प्रचलित हो, पर इतना निर्विवाद सत्य है कि वेदों में मिल-जुलकर सहकार के आधार पर कार्य करने की विधि को अत्युत्तम माना गया है। अथर्ववेद में संगठनात्मक समितियों में मेल-जोल के आधार पर कार्य करने को सफलता का सूत्र बताया गया[1] है। इसी प्रकार ऋग्वेद में बताया गया है कि मिलकर काम करने से, मिलकर खाने से तेज और समृद्धि की प्राप्ति हो सकती है अन्यथा नहीं[2]। जिस प्रकार से सूर्य, वायु, अग्नि आदि दैवी शक्तियाँ अनन्त काल से परस्पर विरोध रहित अपने-अपने कर्त्तव्यों में संलग्न हैं, उसी प्रकार मनुष्यों को भी उनके उदाहरण से शिक्षा ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है। साथ ही इस बात पर बल दिया गया है कि प्रत्येक कार्य को संगठित होकर एकमत के आधार पर किया जाय। अथर्ववेद में सहयोग और सहकार के सिद्धान्त का उत्पादन और वितरण के क्षेत्र में पालन करने का स्पष्ट उपदेश है। "एक साथ धन लगाकर एक साथ श्रम कर जो कुछ भी लाभ हो उसका सभी में समान भाव से वितरण हो। अन्न व जल का समान भागों में वितरण हो। सभी लोग एक ही बन्धन (नियमों) में बंधकर कार्य करें[3]।" इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वेदों के ऋषियों के विचार में सहकारी संगठन ही उत्पादन संगठन का सर्वोत्तम रूप रहा है।

विभिन्न वर्ण के लोगों के बीच जो भेद की परम्परा भारतीय समाज में मिलती है, वह किसी प्रकार से भी वैदिक विचारों का परिणाम नहीं है। वेदों के अध्ययन के सम्बन्ध में यजुर्वेद में स्पष्ट कहा गया है ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्णों के लिए तो श्रव्य है ही साथ ही विधर्मी एवं विदेशी व्यक्ति भी

---

1. ज्यायश्वन्तश्चित्तिनोमावियौष्ट संराधयन्त सधुराश्चरन्तः ।
न्यन्योन्यस्मै वल्गवदन्तोयात समागास्थ सधीचीनान् ॥
(अथर्व० 5-19-5)

2. सह नानववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनविधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥
संगच्छध्वं संवदध्वं संवोमनांसि जायताम् ।
देवाभागं यथा पूर्वे संसृजानामुपासते ॥ (ऋ० 10-191-12)

3. समानीप्रपा सहवो अन्नभागः समानेमोषधे सहवोयुनज्मि ।
सम्यजोग्निं सपर्यतारां नामिमवाक्ता ॥ (अथर्व० 5-19-6)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इनका पूरा उपयोग कर सकते हैं।[1] इसी प्रकार इस बात के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि विभिन्न वर्ण के लोगों के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वे अपने पितरों के व्यवसाय को ही अपनाएँ। हर युवा व्यक्ति को अपने लिए उचित व्यवसाय चुनने का अधिकार था, इसमें वंशगत व्यवसाय या वर्ण कोई बाधा नहीं प्रस्तुत करते थे। ऋग्वेद में उपासक कहता है, मैं कवि हूँ। मेरी कन्या पत्थर की चक्की चलाने वाली है। धन की कामना करने वाले नाना कर्मों वाले हम, गाँवों की तरह, एक गोष्ठ में रहते हैं।[2]

विनिमय एवं वितरण

वैदिक साहित्य में किसी सामान्य द्रव्य का उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह पता चलता है कि अधिकतर व्यापार वस्तु-विनिमय के आधार पर होता था। अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि यदि मूल्य के मापदण्ड के रूप में यदि किसी वस्तु का उपयोग होता था तो वह थे पशु और उनमें भी मुख्यतः गाय। इसी प्रकार मूल्य के निर्धारण के सम्बन्ध में भी कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। विनिमय की कुछ मान्यताएँ थीं, जिनका पालन करना हर विनिमयकर्ता के लिए आवश्यक था। अथर्ववेद में शौनक मुनि ने व्यापारी के लिए उपयुक्त इन्द्र की प्रार्थना लिखी है, जिसमें व्यापारी कहता है, "हे इन्द्र तुम हमारे मार्ग दर्शक वणिक् बनो। मूल्य न देने वाले से हमें बचाओ, प्रतिस्पर्धी से मुझे बचाओ, मुझे धन प्रदान करो। पृथ्वी एवं स्वर्ग के बीच के देव-मार्ग दुग्ध और घी से युक्त होकर मेरा स्वागत करें ताकि मैं अपने भविष्य के माध्यम द्वारा अधिकतम धन प्राप्त कर सकूँ। हे देवो, मेरी पूँजी में वृद्धि होती चली जावे, कमी कभी न आवे। हे अग्नि, उन लोगों को नष्ट करो जो मेरे लाभ को नष्ट करना चाहें।[3] स्पष्ट है कि वाणिज्य लाभ कमाने के लिए ही किया जाता था और वैदिक ऋषियों को ज्ञात था कि स्पर्धा की स्थिति में लाभ कम हो जावेगा और व्यापार में पूँजी की हानि होना बहुत बड़ी हानि है। परन्तु लाभ कमाने के लिए भी नियम हैं और इन नैतिक नियमों का उल्लंघन करते

---

1. यथेमा वाचं कल्याणीम् आवदानि जनेभ्य :
   ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च (यजु॰ 26-2)
2. ऋग्वेद 9-113-3
3. अथर्ववेद (3-8-1, 2, 5)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हुए लाभ कमाना अनुचित है। मूल्य प्राप्त करने के बाद व्यापारी को आवश्यक रूप से वस्तु की पूर्ण मात्रा एवं उचित गुण में प्रदान करना आवश्यक है।[1] व्यापारी प्रतिज्ञा करता है कि "इस वस्तु को मैं तुम्हें मूल्य लेकर दे रहा हूँ। इसीलिए इसको पूर्ण करके, भरकर, पुनः पूर्ण करके दे रहा हूँ।" इससे व्यवसाय जगत् की सत्यता, अलोलुपता का पता चलता है।

वितरण के क्षेत्र में वैदिक साहित्य में अर्थशास्त्रीय, मजदूरी, लगान, ब्याज अथवा लाभ के सिद्धान्तों की खोज करना शायद ही उपयोगी सिद्ध होगा। लेकिन धन के समान वितरण की वांछनीयता के सम्बन्ध में वेदों में स्पष्ट विवरण प्राप्त होता है। यजुर्वेद में कहा गया है कि जिन लोगों ने अपने धन को निर्धन जीवों में वितरण किया, वे अपने पुण्य और यश के प्रभाव से सदैव जीवित हैं। आकाश में प्रकाशित हैं।[2]

अपने पास धन होते हुए भी निर्धनों की याचना पर ध्यान न देना बड़ा ही अमानुषिक समझा गया है। ऋग्वेद में ऐसे बहुत से मन्त्र हैं जिनमें जरूरतमन्द लोगों को अन्न और धन प्रदान करने की वांछनीयता पर जोर दिया गया[3] है। इस प्रकार वेदों में धन के समान वितरण और आर्थिक समानता को बार-बार वांछनीय बताया गया है।[4]

---

1. ॐ पूर्णदर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत।
   वस्नेव विक्रिणावहा इस मूर्जं॥ (यजु॰ 3-49)
2. त आजयन्त द्रविणं समस्या,
   ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना।
   असूर्ते सूर्ते रजसि निषते।
   ये मुतानि समकृण्वमिमानि। (यजु॰ 17-28)
3. ऋग्वेद (10-48-117)
4. समानी प्रपा सह वो अन्न भागः समाने मोषधे सहवो युनज्मि।
   सम्यजो ग्निं-सपर्यतारा नामिमिवामितः (अथर्व॰ 3-30-6)
   ये समानाः समनसो जीवा जीवेसु मामका।
   येषां श्रीममि कल्पतांस्मिल्लोके शतं समा (यजु॰ 29-46) तथा
   ऋग्वेद 10-193-3,4, अथर्व॰ 3-30-1 आदि।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उपसंहार :

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्थिक समस्या का आधुनिक अर्थ में, अपेक्षाकृत अभाव होते हुए भी वैदिक आर्य अर्थ-व्यवस्था के संचालन तथा आर्थिक व्यवहार के नियमों से अनभिज्ञ नहीं थे। ऋषियों द्वारा जो मानव व्यवहार के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में उपदेशादि दिए हैं, उन्हीं में हमें आर्थिक व्यवहार के नियमों की झाँकी भी मिलती है। वैदिक काल की आर्थिक विचारधारा को न तो नैतिक एवं आध्यात्मिक दर्शन से भिन्न किया जा सकता है और न ही वैदिक विचारकों को किसी आर्थिक-सम्प्रदाय विशेष की ही संज्ञा दी जा सकती है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन स्फुट आर्थिक विचारों में व्यक्ति की अपेक्षा समाज, व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा सार्वजनिक हितों पर अधिक बल दिया गया है। व्यक्तिगत एवं सामाजिक हितों में द्वन्द्व की स्थितियों की सम्भावना को माना गया है और ऐसी स्थितियों में औषधि के रूप में न तो "पूर्ण स्पर्धा" और "आर्थिक स्वतंत्रता" का आधार लिया गया है, और न ही राजकीय हस्तक्षेप का आह्वान किया गया है, बल्कि नैतिक नियमों द्वारा व्यक्ति के ऐसे व्यवहार को नियंत्रित करने की चेष्टा की गई है जो सामाजिक हितों के विरुद्ध हो। आर्थिक विचारधारा इस प्रकार किसी "वाद" या "सम्प्रदाय" के अन्तर्गत नहीं आती। यह एक समयोचित विचारधारा थी और घटना-विशेष के सन्दर्भ में एक विशिष्ट हल को ढूंढने का उपदेश देती थी।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर वैदिक विचारधारा में निहित कुछ महत्त्वपूर्ण आर्थिक धारणाओं का यहाँ पर उल्लेख किया जा सकता है। सर्वप्रथम यह कहना त्रुटिपूर्ण न होगा कि वैदिक विचारधारा के अनुसार धनोपार्जन मनुष्य का एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है परन्तु इसे उसके जीवन का मुख्य उद्देश्य या लक्ष्य समझना पूर्णरूपेण असंगत होगा। निर्धन होना अभिशाप है परन्तु अधिकाधिक धनोपार्जन करके विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करना भी अनुकरणीय व्यवहार नहीं है। दूसरे, धन तथा धन-प्राप्ति के साधनों में प्रकृति का सर्वोपरि स्थान है। भूमि व पशु न केवल उत्पादन के साधन हैं परन्तु धन के प्रमुख रूप भी हैं। श्रम की महत्ता का उल्लेख अवश्य मिलता है। अपने श्रम के उपयोग से जीविका तथा धन का उपार्जन कर आत्मसम्मान एवं आत्मनिर्भरता की रक्षा करने पर बल दिया गया है। तीसरे, संगठन व सहकार को आर्थिक संचालन का समुचित आधार माना गया है, प्रतिस्पर्धा को नहीं। अन्त में, सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कि आर्थिक व्यवहार को सामाजिक व्यवहार का एक अंग माना गया है, इसलिए आर्थिक कार्यों का सम्पादन समाज के नैतिक विधान के अनुसार ही करना आवश्यक है। आर्थिक तथा नैतिक धारणाओं के द्वन्द्व की स्थिति में आर्थिक लाभ या स्वार्थ का नैतिक सिद्धान्तों के हित में परित्याग अपेक्षित है।

———

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय 2

वेदोत्तरकालीन विचारधाराएँ (1) कौटिल्य

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वेदोत्तरकालीन विचारधाराएँ (1) कौटिल्य

चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व तक भारतीय इतिहास की दिशा वैदिक परम्परा से बिल्कुल ही भिन्न हो चुकी थी। कुछ सामाजिक व धार्मिक संस्थाओं के पूर्ववत् रहते हुए भी राजनैतिक और आर्थिक ढाँचे में अप्रत्याशित परिवर्तन हो चुके थे। फलतः इस काल का भारत वैदिककालीन भारत से बिल्कुल ही भिन्न हो गया था। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी न केवल भारतीय इतिहास में, बल्कि विश्व-इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसी शताब्दी में पहले विकासोन्मुख मकदूनिया के सम्मुख अनेक यूनानी नगरों को नतमस्तक होना पड़ा और तब सिकन्दर के साम्राज्य का अन्त होने पर यूनान का भाग्य-सूर्य अस्त हो गया।

(1) राजनीतिक स्थिति

काफी समय पूर्व ही राजनीति का केन्द्र पंजाब से हटकर गंगा की घाटी में आ चुका था। तक्षशिला अब गंगा की घाटी और फारस के साम्राज्य के बीच व्यापार का केन्द्र बन चुका था। दक्षिण भारत में किसी शक्तिशाली राज्य का का पता नहीं चलता। उत्तर भारत के विदेह, काशी, अंग, लिच्छिवी आदि राज्यों में से अधिकांश को मगध ने बलपूर्वक अपने में मिला लिया। कोशल और मगध के बीच वास्तविक द्वंद्व रहा पर कुछ ही समय तक। मगध का लौह एवं ताम्र आदि खनिज पदार्थों में एकाधिकार होने के फलस्वरूप, उसे कोशल पर विजय मिल ही गयी।[1] कुछ अवशिष्ट क्षत्रिय वंश, उदाहरणार्थ कुरु और पाँचाल, महापद्म नन्द द्वारा 350 ई० पू० तक समाप्त कर दिये गये।

सिकन्दर के आक्रमण (327 ई० पू०) के उपरान्त भारत में यूनानियों के

---

1. खनिजों के महत्त्व को मगध के लोग भलीभांति समझते थे—
"राजकोष खनिज पर निर्भर रहता है और सेना राजकोष पर" (अर्थशास्त्र 2/12)
"खान युद्ध-सामग्री का गर्भ है" (अर्थशास्त्र 7/14)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विरुद्ध विद्रोह की भावना और फलस्वरूप देशभक्ति का उद्भव हुआ। और राजनीतिक एकता के सूत्र में परिबद्ध होने की लालसा बढ़ने लगी थी। नन्दवंशीय राजा धनानन्द के अत्याचारों से लोग आतंकित थे। उसके द्वारा व्यक्तिगत रूप से अपमानित होने पर कौटिल्य तथा चन्द्रगुप्त ने नन्दवंश की समाप्ति का बीड़ा उठाया और फलतः 320 ई० पू० के लगभग चन्द्रगुप्त मौर्य मगध की गद्दी पर बैठा। इस प्रकार भारत में सर्वप्रथम एक शक्तिशाली केन्द्रीय राज्य की स्थापना हुई। चन्द्रगुप्त मौर्य को भारत का प्रथम महान ऐतिहासिक सम्राट् कहना उचित ही होगा। उसका साम्राज्य पश्चिमोत्तर में काबुल से लेकर दक्षिण में मैसूर तक और पश्चिम में सौराष्ट्र से लेकर पूर्व में बंगाल और असम तक फैला था। इस प्रकार कश्मीर और कलिंग को छोड़कर समस्त भारत एवं बलोचिस्तान सहित अफगानिस्तान उसके राज्य के अन्तर्गत था।

स्थानीय वंशों द्वारा चुने गये प्रधानों के शासन का स्थान एकतंत्र राज्य प्रणाली ने ले लिया था। तथापि पर्याप्त सीमा तक विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति भी विद्यमान थी। उदाहरण के लिए पूरे राज्य का प्रान्तों में विभाजन किया गया था और हर प्रान्त का शासक एक कुमार होता था। उसकी नियुक्ति सीधे केन्द्रीय सरकार द्वारा होती थी। शासन की सबसे छोटी इकाई "ग्राम" था जिसका प्रबन्ध ग्राम-वृद्धों की सहायता से "ग्रामिक" करता था। पाँच अथवा दस ग्रामों का अधिकारी गोप कहलाता था।

साम्राज्य के सुप्रबन्ध एवं सुरक्षा के हेतु वांछित केन्द्रीकरण की नीति का विकेन्द्रीकरण के साथ समन्वय एवं सन्तुलन स्थापित किया गया था। शासन का प्रधान स्वयं सम्राट् था। युद्ध, न्याय, कानून आदि के सम्बन्ध में उसका निर्णय अन्तिम एवं अनिवार्य था। अपने कर्त्तव्यों के निर्वाह में सम्राट् मंत्रिपरिषद से सहायता लेता था, जो केवल मंत्रणा देने वाले मंत्रियों एवं सचिवों की परामर्शदात्री समिति थी।

कौटिल्य के पहले भारत में अनेक गणराज्य भी विद्यमान थे, जो प्रजातांत्रिक प्रणाली पर अपना-अपना शासन संचालित करते थे। देश की राजनीतिक दुर्बलता एवं अशांति को देखकर कौटिल्य ने उन सबको एकत्र कर एक विशाल "संघराज्य" स्थापित करने की परिकल्पना की। इस "संघराज्य" में विभिन्न इकाइयों का अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहा, वे स्थानीय शासन और आन्तरिक निर्णय में तो पूर्णतया स्वतंत्र थे किन्तु केन्द्रीय शासन का प्रभुत्व मानने को विवश थे। एक केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत प्रजा को अनेक स्वायत्त शासन के अधिकार दिये गये

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

थे, उनका तात्पर्य केवल यही था कि प्रजा और राजा के मध्य कोई असंतोष, अभाव और मनोमालिन्य न उत्पन्न होने पावे।

(2) सामाजिक व्यवस्था

तत्कालीन भारतीय समाज वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-की आधार-शिला पर स्थापित था। विवाह जाति-भेद का मुख्य आधार था, अस्पृश्यता नहीं। यद्यपि थोड़ी बहुत मात्रा में छुआछूत की प्रवृत्ति भी उन दिनों भारतीय समाज में प्रचलित थी। मेगस्थनीज के अनुसार तत्कालीन समाज में सात भिन्न-भिन्न वर्ग थे, (1) ब्राह्मण एवं दार्शनिक, (2) कृषक, (3) चरवाहे-आखेटक, (4) शिल्पी एवं फुटकर व्यापारी, (5) सैनिक, (6) निरीक्षक एवं गुप्तचर जो लोगों के कार्य का विवरण राजा एवं न्यायाधीश को देते थे, (7) राजा की परिषद् के सदस्य। समाज का यह वर्ग-विभाजन परम्परागत चतुर्वर्ण व्यवस्था से भिन्न प्रतीत होता है। "अर्थशास्त्र" में हम समाज का चार वर्गों में स्पष्ट विभाजन पाते हैं। (अध्याय 2)।

पर वास्तव में मेगस्थनीज का कथन त्रुटिपूर्ण हो यह बात भी नहीं है। मेगस्थनीज ने अलबरूनी की तरह शास्त्रों को पढ़कर अपना वर्णन प्रस्तुत नहीं किया बल्कि जो कुछ देखा उसी को लेखबद्ध कर दिया। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही है कि उसे समाज में वर्ण या जातियों का उतना सही अनुमान नहीं हो पाया जितना कि वर्गों (classes) का। चतुर्वर्णों के बीच कार्य-विभाजन बहुत मोटा-सा है और इन वर्णों के अन्तर्गत भी कार्यों का उप-विभाजन पाया जाता है। मेगस्थनीज ने इस उप-विभाजन के आधार पर ही विभिन्न कार्यों के अनुसार चार "वर्ण" न देकर समाज के सात वर्ग दिये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ये सात वर्ग, चार वर्णों से भिन्न नहीं हैं बल्कि उन्हीं के अन्तर्गत ही आते हैं। जहाँ तक प्रथम वर्ग का प्रश्न है, हमें कोई कठिनाई नहीं होती क्योंकि यह वर्ग, शास्त्रों एवं अर्थशास्त्र के "वर्ण" के ही समान हैं। श्रमण और ब्राह्मण अशोक के शिलालेखों के अनुसार भी एक ही वर्ण में सम्मिलित थे। श्रमण और ब्राह्मण में अन्तर यह था कि श्रमण आजन्म ब्रह्मचारी रहता था और ब्राह्मण 25 वर्ष के ब्रह्मचर्य के पश्चात् विवाह करके सन्तानोत्पत्ति का कार्य भी सम्पन्न करता था। पर दोनों वर्गों को परम्परागत पवित्रता तथा श्रेष्ठता मिली थी, इसलिए इन दोनों को एक ही वर्ण में रखना अनुपयुक्त नहीं होगा। मेगस्थनीज द्वारा दिया हुआ पाँचवाँ वर्ग निश्चय रूप से क्षत्रिय, वर्ण था। तृतीय वर्ग के चरवाहे एवं आखेटक व्रात्य जाति के अवशेष लोग थे जो अब पूर्णतया आर्यों में

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ही मिल चुके थे। शिल्पी एवं फुटकर व्यापारी जो, मेगस्थनीज के चौथे वर्ग के अन्तर्गत आते हैं, वे नगरों में वस्तुओं का उत्पादन करते थे और उनको ग्रामीण क्षेत्रों में बेचते थे क्योंकि शिल्पकला का विकास अभी तक ग्रामों में अधिक नहीं फैल पाया था। यह वर्ग स्पष्टतया वैश्य वर्ण के अन्तर्गत आता है। मेगस्थनीज द्वारा वर्णित द्वितीय वर्ग के कृषकों को भी साधारणतया इसी वर्ण के अन्तर्गत रखा जाता है। परन्तु मेगस्थनीज ने इस वर्ग का जो विवरण दिया है वह इस प्रकार है : "कुल जनसंख्या का अधिकांश भाग इन्हीं लोगों का था, आखेटकों और चरवाहों द्वारा उत्पादित थोड़ी-सी मात्रा के अतिरिक्त सम्पूर्ण भोज्य पदार्थों का अतिरिक्त उत्पादन यही लोग करते थे। कोई अन्य वर्ग इनका उत्पादन करता ही न था। वे कभी शहरों में प्रविष्ट नहीं हुए, उन्होंने कभी वस्त्र नहीं धारण किये, वे सैनिक उत्तरदायित्व से मुक्त थे इत्यादि।" इस वर्ग को वैश्य वर्ण के अन्तर्गत लाने में कठिनाई इस बात की है कि वैश्य लोगों को अभी तक शस्त्र धारण करने एवं पद प्राप्त करने का अधिकार मिला ही हुआ था। इसीलिए कई विद्वान इस वर्ग को शूद्र वर्ण में सम्मिलित करना अधिक उचित समझते हैं।[1] मेगस्थनीज द्वारा वर्णित छठे और सातवें वर्ग में जो राजकीय पदाधिकारी आते हैं, उनको यद्यपि एक अलग वर्ग तो कहा जा सकता है पर उनमें से अधिकांश लोगों को उच्च वर्ग के नागरिकों, जो सम्भवतः ब्राह्मण एवं क्षत्रिय ही अधिकतर थे, में से लिया गया था। यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष में वर्गों का उद्भव जातियों एवं वर्णों के रूप में हुआ और इसलिए इन लोगों में से अधिकांश बाद में एक अलग जाति बन गये जिन्हें कायस्थ कहा जाता है। इस जाति के लोग तब भी राज्य में लिपिक एवं लेखा-संयोजकों के रूप में विद्यमान थे पर "कायस्थ" नाम से एक भिन्न जाति का प्रादुर्भाव तब तक नहीं हो पाया था। इस प्रकार मेगस्थनीज द्वारा वर्णित विभिन्न वर्ग, परम्परागत जाति-व्यवस्था के ही अन्तर्गत आते हैं। लेकिन जाति-व्यवस्था में अब पहले के बराबर दृढ़ता नहीं रह गयी थी और धीरे धीरे रूढ़ियों का विघटन होने लगा था।

यह कहा जा चुका है कि समाज वर्णाश्रम व्यवस्था तथा चार पुरुषार्थों की आधारशिला पर टिका हुआ था। चारों पुरुषार्थों में "धर्म" को सर्वश्रेष्ठ अब भी माना जाता था, पर धीरे-धीरे "अर्थ" को महत्त्व देने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी।

---

1. Kausambi, D. D., An Introduction to the Study of Indian History, Bombay, 1956, page 185.

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इस प्रकार आदर्शवाद का एक प्रकार से पतन हो रहा था। कौटिल्य के "अर्थशास्त्र" में वर्णित समाज में तो आदर्शवाद का स्पष्ट पतन दृष्टिगोचर होता है। हर कार्य को उसके भौतिक उद्देश्य की पूर्ति के सन्दर्भ में देखने की प्रवृत्ति का उत्तरोत्तर विकास हो रहा था। पर जाति-व्यवस्था समाज के ढाँचे को सुसंगठित रखने तथा दृढ़ बनाने में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुई। प्रसिद्ध इतिहासकार बिल ड्यूरेन्ट के मतानुसार जाति-व्यवस्था ने भारत को सैनिक तानाशाही तथा धनिक-तन्त्र के चंगुल से सुरक्षित रखा एवं आक्रमणों एवं क्रान्तियों द्वारा उत्पन्न दीर्घ-कालीन राजनीतिक अव्यवस्था के वातावरण में सामाजिक नैतिक तथा सांस्कृतिक सुव्यवस्था को निरन्तर अविच्छिन्न बनाये रखा।

जाति प्रथा के विकास के साथ ही सवर्ण विवाह की प्रथा का भी विकास हो चुका था। सपिण्ड एवं सगोत्र तथा असवर्ण विवाह वर्जित हो चुके थे। ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष एवं दैव विवाह धर्मानुकूल माने जाते थे तथा गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच विवाह निषिद्ध थे। इन सभी विवाहों का विवरण हमें अर्थशास्त्र में भी मिलता है (III, II, 152)[1]। पुरुषों के आश्रित होते हुए भी स्त्रियों की दशा आश्रितों जैसी नहीं थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतीय रमणियों ने अस्त्र-शस्त्र ग्रहण कर सजातीय पुरुष सैनिकों के साथ शत्रुदल का सामना करने के लिए रणभूमि में प्रस्थान किया था। कौटिल्य के अनुसार वृत्ति (जीविका के साधन) एवं आबध्य (आभूषण) स्त्रियों की निजी सम्पत्ति थी। पति द्वारा परिवार की व्यवस्था न किये जाने पर पत्नी इनका उपयोग कर सकती थी। विधवा-विवाह को भी औचित्य प्राप्त था (III, II, . 152)[1]

(3) आर्थिक वातावरण

इस प्रकार तत्कालीन समाज परम्परागत रूढ़ियों एवं नैतिक नियमों तथा सिद्धान्तों पर टिका हुआ था। समाज में जो विभिन्न वर्ग थे, उनमें भेद अवश्य था, पर वह छुआछूत के आधार पर नहीं था। मेगस्थनीज के विवरण के अनुसार उस समय भारत में दास प्रथा प्रचलित नहीं थी। अशोक के शिलालेखों से यह आभास मिलता है कि छुट-पुट दास प्रथा प्रचलित थी, पर यह निस्सन्देह सत्य है कि दासों के प्रति दुर्व्यवहार समाप्त हो चला था। वास्तव में सामाजिक ढांचा अपेक्षाकृत इतना विस्तृत एवं विकेन्द्रित हो चला था कि एक शासक वर्ग द्वारा

1. इस प्रकार के सभी अंक "अर्थशास्त्र" के अध्याय, अधिकरण एवं श्लोक को इंगित करते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दासों के बल पर उत्पादन-कार्य सम्पन्न करवाना युक्तिसंगत नहीं रह गया था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र (III-13) में दास प्रथा को औचित्य प्रदान तो अवश्य किया पर उसके व्यवहार में अनेक सीमाएँ भी निर्धारित की थीं।

इस काल में सामाजिक संस्थाओं में जो परिवर्तन हुए, वे मुख्यतया निम्न क्षेत्रों में थे—बन्धक की प्रथा, ब्याज एवं सूदखोरी। ऋण शब्द का मौलिक अर्थ "पाप" से लिया जाता था। ऋग्वेद में भी ऋण का विवरण तो मिलता है पर ब्याज का कोई उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन ब्याज या "वृद्धि" शब्द का अर्थ ऐसी फसल के अंश से लिया जाता था जिसके लिये बीज उधार लिया गया हो। पर "अर्थशास्त्र" के रचनाकाल तक ब्याज नैतिक तथा आर्थिक रूप से पुष्टि पा चुका था। कौटिल्य लिखते हैं—

"$1\frac{1}{4}$ पण प्रतिशत प्रतिमास ब्याज की दर पवित्र एवं न्यायपूर्ण है, 5 पण व्यापार में सामान्य रूप से है, 10 पण ऐसे उद्यमों के लिए उचित है जिनके लिए अरण्य-यात्रा करनी पड़े; और 20 पण ऐसे उद्यमों के लिये जिसके लिये सागर की यात्रा करनी पड़े। 'कोई व्यक्ति जो इससे ऊँची दर पर ब्याज लेता या देता है उसे प्रथम सहस्त्र दण्ड (96 पण तक) देना पड़ेगा, और जो ऐसे सौदों की गवाही करता है उसे इसका आधा दण्ड देना होगा......." (अर्थशास्त्र III-11)

वास्तव में मगध साम्राज्य के विस्तार के साथ जब व्यापार, वस्तु-उत्पादन तथा व्यापारिक पूँजी का विकास हुआ तो ऋण लेने और देने की प्रथा का विकास भी स्वाभाविक था, और सामान्य आर्थिक सिद्धान्तों के अनुकूल ऐसी दशा में ब्याज का लेना और देना भी स्वाभाविक ही था।

'अर्थशास्त्र' जिस समाज के सन्दर्भ में लिखा गया था वह वृहद् आकार के वस्तु-उत्पादन में कुशल था और सुदूर स्थानों तक व्यापार का भी पर्याप्त विकास हो चुका था। तत्कालीन ग्रन्थों में हमें लगभग अठारह शिल्प मिलते हैं जिनमें कुछ श्रेष्ठ तथा कुछ हीन माने जाते थे। साधारणतया सभी पेशे वंशानुगत होते थे, पर व्यवसाय को वंश की परम्परा के अतिरिक्त बदलने पर कोई विशेष अवरोध नहीं था। कौटिल्य ने शिल्पियों और कामगारों के बारे में जो विधान बनाया था उससे स्पष्ट है कि उत्पादन संयोजित तथा संगठित रूप से तथा वृहत् आकार में होता था। कौटिल्य ने लिखा है, "शिल्पी लोग स्थान, समय तथा कार्य करने में बहाना करें और काम खराब करें तो उनको मजदूरी तो नहीं ही मिलेगी, उसका दुगुना जुर्माना भी होगा। अगर वे कार्य में देर करें तो उनकी मजदूरी का चौथाई हिस्सा काट लिया जाय और उसका दुगुना जुर्माना वसूल किया जाय।"

(अर्थशास्त्र II, III, 89)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वास्तव में इस युग में अधिकतर उत्पादन राज्य के प्रत्यक्ष निरीक्षण के अन्तर्गत ही होता था। राज्य कई क्षेत्रों में एक तरह से पूर्ण एकाधिकार की स्थिति में था। मेगस्थनीज ने वस्तु व्यापार के लिए स्थापित राजकीय परिषद् का जो विवरण किया है उसकी पुष्टि 'अर्थशास्त्र' में होती है (IV, II)। निजी रूप से व्यापार करने वाला व्यक्ति कण्टक स्वरूप माना जाता था और समाज के हितों के विरुद्ध किये गये कार्यों के लिये उस पर भारी जुर्माना किया जाता था (IV, II)। मूल्यों का नियंत्रण किया जाता था और साथ ही वस्तुओं के गुण एवं मान का भी। जब कभी आवश्यकता से अधिक उत्पादन होता था तो व्यापार-निरीक्षक को उन्हें किसी एक केन्द्रीय स्थान पर बेचना होता था। जब तक यह माल न बिक जाय कोई अन्य माल नहीं बेचा जा सकता था। बिक्री का काम दैनिक मजदूरी पर काम करने वाले व्यापारी करते थे। (IV, II)। राज्य व्यापार गृह, राज्य अन्नागार तथा कोषों का निर्माण सन्निधातृ को विशेष रूप से करना होता था। माप तथा तौल का उचित पालन करने के अतिरिक्त व्यापारियों को जनपदों की सीमाओं से आयात-निर्यात करने पर चुंगी भी देनी पड़ती थी।'

कुछ महत्त्वपूर्ण एवं लाभदायक क्षेत्रों में राज्य का एकाधिकार था। इनमें से मुख्य हैं पशु-वध गृह (II-27) तथा द्यूत गृह (III-20)। द्यूतगृह में निरीक्षक शुद्ध पाँसा प्रदान करता था। प्रत्येक बाजी पर 5 प्रतिशत स्वयं लेता था। मद्य तथा वेश्यावृत्ति प्रत्येक के भिन्न-भिन्न मंत्रालय थे (II 25, 27)। द्यूत, मद्य एवं वैश्यावृत्ति का प्रचलन इस बात का द्योतक माना जा सकता है कि उस समय लाभोपार्जन की प्रवृत्ति से प्रेरित वर्ग-समाज का विकास काफी सीमा तक हो चुका था। खनिजों में सम्पूर्ण प्रकार के पदार्थ, कच्चे खनिज से लेकर, तैयार माल तक सरकार की ही सम्पत्ति थी (II-12)।

उद्योग-धन्धों के विकसित होने पर भी कृषि अभी तक आर्थिक व्यवस्था का मेरुदण्ड बनी थी, वास्तव में अर्थ-व्यवस्था कुछ बड़े-बड़े नगरों के विकसित हो जाने पर भी मूलरूप से ग्राम्य-अर्थ व्यवस्था ही थी। 'अर्थशास्त्र' के प्रारम्भ में हमें ग्रामों के निर्माण, आयोजन तथा संरक्षण का विस्तृत विवरण मिलता है, साथ ही राज्य को ग्रामों के निर्माण एवं विकास के लिए क्या-क्या कार्य करने चाहिये इनका भी विस्तृत उल्लेख किया गया है। ग्राम सभाओं द्वारा स्वशासित ग्रामों में फसल का छठा भाग प्रमुख द्वारा उगाहा जाता था और राज्य को कर के रूप में प्रदान किया जाता था। राजा चाहे तो किसी भी गृहपति (कृषक) को भूमि कर

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

से मुक्त कर सकता था। कृषकों के अधिकार सुरक्षित थे, फसल के ऊपर उनका पूर्ण अधिकार था। भूमि जोतने वाले वर्ग से कोई सामरिक या सैनिक सेवा नहीं ली जाती थी। हाँ, आपत्ति काल में उन्हें निर्धारित भूमि कर के अतिरिक्त कुछ और सहायता भी राज्य को देनी होती थी। अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि संकट के समय राज्य की ओर से किसानों को सहायता भी दी जाती थी।

शिल्पी या कामगार लोग व्यावसायिक श्रेणियों (Occupational or Craft Guilds) में संगठित थे। इन श्रेणियों के अपने नियम और उपनियम थे जिनका पालन समुदाय या समूह के हर सदस्य को अनिवार्य रूप से करना होता था। उन्हीं लोगों में से एक 'ज्येष्ठ' था 'श्रेष्ठिन्' चुना जाता था जो एक उत्तरदायित्वपूर्ण तथा गौरवशाली पद माना जाता था। इन ज्येष्ठक तथा श्रेष्ठिन् लोगों को राज-दरबार में उपयुक्त सम्मान प्राप्त होता था और उनकी श्रेणियाँ आर्थिक तथा राजनीतिक मामलों को भी प्रभावित करती थीं। इन श्रेणियों के कार्य बहुउद्देश्यीय थे। ये एक ओर तो अपने सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बैंकों का काम किया करती थीं। 'दूसरी ओर ज्येष्ठक की अध्यक्षता में उनकी एक कार्यकारिणी भी होती थी जो न्याय-प्रशासन का कार्य करती थी। श्रमिकों के आपसी झगड़ों का निर्णय इसी के हाथ में होता था। इसके अतिरिक्त ये श्रेणियाँ अपने सदस्यों द्वारा निर्मित वस्तुओं की शुद्धता एवं गुणवत्ता पर नियंत्रण रखती थीं और इन वस्तुओं के मूल्यों का नियंत्रण भी उन्हीं के हाथ में था। कुछ श्रेणियों की अपनी निजी सेनाएँ भी होती थीं। सब श्रेणियों का एकमात्र प्रमुख राज्य का कोषाध्यक्ष—भाण्डारिक होता था जो इन सब श्रेणियों का सर्वोच्च अधिकारी माना जाता था।

इस प्रकार ये श्रेणियाँ बहुधन्धी संस्थाएँ थीं, जो एक साथ श्रमिक संघ, मूल्य-नियन्त्रण एवं अधिकोषण के कार्य किया करती थीं। इन संस्थाओं ने वंशगत व्यवसायों की कार्यकुशलता की रक्षा एवं विकास में प्रचुर योगदान किया। उन्होंने समाज तथा राज्य को समय-समय पर आर्थिक सहायता प्रदान की और अपने तथा जन साधारण के आर्थिक कल्याण को सुनिश्चित एवं स्थिर बनाया। उनकी उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए राज्य सदा उनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता का सम्मान करता था तथा उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध किया करता था। यदि ये श्रेणियाँ कोई समाजविरोधी कार्य करतीं या आपसी झगड़े के कारण इनका अस्तित्व खतरे में पड़ जाता तो राज्य हस्तक्षेप करने से भी नहीं चूकता था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"अर्थशास्त्र" की विचारधारा

इस युग के दार्शनिकों एवं विचारकों में आचार्य कौटिल्य[1] का नाम अर्थशास्त्र के क्षेत्र में स्वभावतः सर्वप्रथम लिया जाता है। स्वयं कौटिल्य इस बात को स्वीकार करते हैं कि उन्होंने उन सब अर्थशास्त्रियों का सार लेकर अपने "अर्थशास्त्र" की रचना की, जो प्राचीन आचार्यों द्वारा पृथ्वी के जीतने और पालन के उपायों के सन्दर्भ में लिखे गये हैं।[2] विद्या की इस शाखा (अर्थशास्त्र) की इन पुराने आचार्यों बृहस्पति, चार्वाक, शुक्राचार्य, मनु, भारद्वाज, पराशर, पिशुन (नारद), कौणपदन्त, वातव्याधि, बाहुदंत्तीपुत्र, आदि ने व्याख्या अवश्य की, पर यह व्याख्या विशाल धर्मग्रन्थों एवं नीतिशास्त्रों के एक छोटे-से अंश के रूप तक ही सीमित रही। सर्वप्रथम कौटिल्य ने ही इन सब अंशों का सार लेकर, उसमें अपने मौलिक विचारों का समावेश कर "अर्थशास्त्र" पर एक भिन्न ग्रन्थ रचने का साहस किया। इस कारण उनका नाम शास्त्रों की इस शाखा के विचारकों में सर्वप्रथम लेना उचित ही होगा।

भारत तथा विदेशों, विशेषकर, रूस, जर्मनी[3] और फ्रांस[4] में कौटिल्य और

---

1. प्रोफेसर कौशाम्बी के मतानुसार यही शुद्ध नाम है। "कौटिल्य" शब्द जिसका साधारणतया उपयोग होता है, कुटिलता से बना है। चूंकि कौटल्य की विचारधारा परम्परागत आदर्शवाद के विरोध में भौतिकवाद पर अधिक जोर देती है जो कि धर्माचार्यों को उचित नहीं प्रतीत हुआ, इसीलिए उन्होंने "कुटिलता" का पुट देने के लिए उन्हें "कौटिल्य" नाम दे दिया। Kausambi, D. D., An Introduction to the Study of Indian History Bombay, 1956, page 199.
2. पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यार्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः
प्रस्तावितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम् ॥
अर्थशास्त्र प्रथम अधिकरण, प्रथम अध्याय, श्लोक।
3. उदाहरणार्थ Breloer (B), Kautaliya Studien, 2 Vols. (Boune, 1928) Hildebrandt (A), Atindische Politik (Jena 1923) Meyer, (J. J.), Uber das Wesen der Altindischen Rechtsschniften (Lipzig, 1926)
4. उदाहरणार्थ Nag. (K.), Les Theories Diplomatiques De L'Inde Ancienne L'Arthasastra (1923)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"अर्थशास्त्र" पर जो शोधकार्य हुआ है, उसमें कौटिल्य के जीवनकाल तथा सम्बन्धित तथ्यों के सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है। कौटिल्य "अर्थशास्त्र" में हर अध्याय की समाप्ति पर अन्तिम श्लोक में अपना नाम अंकित करते हैं और अन्त में एक श्लोक में स्वयं द्वारा नन्द वंश के विनाश किये जाने का उल्लेख करते हैं।[1] कौटिल्य द्वारा नन्द वंश का विनाश किया जाना एवं चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक करना, स्वयं उसका प्रधानमन्त्री बनना आदि ऐतिहासिक तथ्य हैं। इस तथ्य की पुष्टि हमें विष्णुपुराण में भी मिलती है।[2] यह बात निर्विवाद रूप से सत्य हो चुकी है कि चन्द्रगुप्त मौर्य 321 वर्ष ईस्वी पूर्व के आस-पास सिंहासनारूढ़ हुआ और अशोकवर्धन 296 ई० पू० में। इस प्रकार इतिहास एवं पुराणों द्वारा समर्थित मत के अनुसार हम यह कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र की रचना 321 एवं 300 ई० पू० के बीच हुई।

यदि कोई आधुनिक अर्थशास्त्र का विद्यार्थी कौटिल्य के ग्रन्थ को एक सरसरी निगाह से देख जाय तो वह यह सोचेगा कि क्यों इस ग्रन्थ को "अर्थशास्त्र" की संज्ञा दी गयी। वास्तव में यदि कौटिल्य के "अर्थशास्त्र" में कोई व्यक्ति आधुनिक (पाश्चात्य) अर्थशास्त्र (इकॉनॉमिक्स) की पाठ्य पुस्तक की सामग्री ढूंढ़ने लगे तो वह निस्सन्देह निराश ही होगा। इसके दो कारण हैं। सर्वप्रथम तो कौटिल्य मूलतः अर्थशास्त्री (इकॉनॉमिस्ट) नहीं थे। वे मुख्यतया एक दार्शनिक, कूटनीतिज्ञ एवं राजनीतिक विचारक थे। यह बात उन सभी आधुनिक यूरोपीय अर्थशास्त्रियों के सम्बन्ध में भी सत्य है, जो दर्शनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र या धर्मशास्त्र से अर्थशास्त्र में आये। इसीलिए एडम स्मिथ, जॉन स्टुअर्ट मिल, माल्थस आदि की

---

1. येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भू।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्।
अर्थशास्त्र, पंचदश अधिकरण, प्रथम अध्याय, श्लोक 80

2. महापथः। तत्पुत्राश्चैकं वर्षशतमवनीपतयो भविष्यन्ति नवैव।
तान्नन्दान्कोटिल्यो ब्राह्मणस्समुद्धरिष्यति।
तेषाभभावे मौर्याश्च पृथिवी भोक्ष्यन्ति।
कौटिल्य एवं चन्द्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति।
तस्यापि पुत्रो बिन्दुसारो भविष्यति तस्याप्यशोकवर्धनः।
(विष्णुपुराण, अध्याय 4, श्लोक 24)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रचनाओं में भी हमें वह विषय-सामग्री प्राप्त नहीं होती जिसे आज का अर्थशास्त्र का विद्यार्थी अपने अध्ययन की मुख्य सामग्री समझता है।

परन्तु कौटिल्य का "अर्थशास्त्र" एडम स्मिथ की वैल्थ आफ नेशन्स, मिल की प्रिन्सिपल्स तथा माल्थम की रचनाओं की अपेक्षा आधुनिक अर्थशास्त्र से बहुत अधिक दूर है। यह दूरी समय[1] एवं स्थान की दूरी का परिणाम भी बहुत सीमा तक हो सकती है। पर इसके अतिरिक्त दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि प्राचीन भारतीय विद्याओं में "अर्थशास्त्र" का क्षेत्र एवं स्थान वह नहीं समझा जाता था जो कि इन लेखकों के लेखन-काल में यूरोप में समझा जाता था। आधुनिक अर्थशास्त्र या यूरोपीय अर्थशास्त्र क्या है उसका क्षेत्र एवं स्थान क्या हैं, यह अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को भलीभांति ज्ञात है। उसकी यहाँ पर व्याख्या करना अनावश्यक एवं सन्दर्भरहित है। हमें अब देखना यह है कि प्राचीन भारत में "अर्थशास्त्र" का क्या स्वरूप था और कौटल्य किस अर्थ में "अर्थशास्त्री" थे।

1—अर्थशास्त्र का विभिन्न विद्याओं में स्थान

(क) विद्याएँ—प्राचीन भारत में ज्ञान की हर सुव्यवस्थित शाखा को शास्त्र या विद्या कहा जाता था। कौटल्य के अनुसार विद्याएँ चार हैं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति।[2] आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत सांख्य अर्थात् सारे दर्शन शास्त्र, योग अर्थात् उपासना शास्त्र, और लोकायत अर्थात् नास्तिक दर्शन आते

---

1. यूरोपीय अर्थशास्त्रियों को ये पुस्तकें 18वीं सदी के उत्तरार्ध में तथा उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में लिखी गयी थीं और कौटल्य का रचनाकाल जैसा कि हम बता आए हैं ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व का है। इस प्रकार दो हजार वर्ष से अधिक समय इन दोनों के बीच गुजर चुका था।
2. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः। अर्थशास्त्र प्रथम अधिकरण द्वितीय अध्याय, श्लोक। शुक्राचार्य के मत में 32 विद्याएँ हैं। (शुक्रनीति अधिकरण 4, अध्याय 3, श्लोक 50-59)। वे अपनी सूची में वार्ता और दण्डनीति का समावेश नहीं करते, पर अर्थशास्त्र का उल्लेख करते हैं। और इसे राजनीति और अर्थशास्त्र के यौगिक शास्त्र से रूप में परिभाषित करते हैं। अर्थशास्त्र को वे "अर्थवेद" की संज्ञा देते हैं और उसे एक उपवेद के रूप में मानते हैं। मनु वार्ता को एक विद्या के रूप में मानते हैं पर आन्वीक्षकी को त्रयी का ही एक अंग मानते हैं। बृहस्पति दण्ड एवं नीति दो ही विद्याएँ मानते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हैं।[1] साम, ऋक् एवं यजुर्वेद इन तीन वेदों को त्रयी विद्या कहते हैं।[2] इसमें धर्म-अधर्म की व्यवस्था है। ये तीन वेद एवं अथर्ववेद तथा इतिहासवेद मिलकर "वेद" कहलाते हैं। शिक्षा, कला, व्याकरण, निरुक्त, छन्दशास्त्र और ज्योतिष ये वेद के अंग हैं। वेद के उच्चारण की प्रक्रिया को शिक्षा कहते हैं। कृषि पशु-पालन और व्यापार ये वार्ता कहलाते हैं।[3] आन्वीक्षिकी, (न्याय शास्त्र) त्रयी (वेद विद्यज्ञ) और वार्ता (व्यापार) इनके सुचारु रूप से संचालन करने में दण्ड ही समर्थ है। दण्ड देने की विधि को दण्ड-नीति कहते हैं।[4] इन विद्याओं की सार्थकता-निरर्थकता को वाद-विवाद से सिद्ध करके संसार का उपकार करना, विपत्ति और सम्पत्ति में बुद्धि को ठीक ठीक रखना, बुद्धिमत्ता, वाक्चातुरी, क्रिया-कुशलता आदि सम्पादन करना **आन्वीक्षिकी** विद्या का कार्य है।

कौटिल्य द्वारा किए गए विद्याओं के इस विभाजन में अर्थशास्त्र का स्थान है यह स्पष्ट नहीं है और न यही स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का क्षेत्र क्या है। लेकिन इन विद्याओं और अर्थशास्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध समझने के लिए हमें "अर्थ-शास्त्र" में पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो जाती है। विद्याओं का यह विभाजन कौटल्य के पूर्वाचार्यों द्वारा भी दिया गया था, यद्यपि हर आचार्य का मत दूसरे से कुछ न कुछ भिन्न पड़ जाता है, पर अर्थशास्त्र किसी न किसी रूप में इन सब विभाजनों में विद्यमान था।

(ख) **वार्ता**—कौटिल्य द्वारा दिये गये विभाजन में "वार्त्ता" अर्थशास्त्र के सबसे अधिक निकट जान पड़ती है। जैसा कि बताया जा चुका है, वार्त्ता के अन्तर्गत कृषि, पशुपालन, एवं व्यापार आते हैं। वार्ता शब्द की उत्पत्ति "वृत्ति" (व्यवसाय या जीविकोपार्जन) से हुई है और इसका उपयोग संकुचित अर्थ में "विशेष व्यवसायों के विषय से सम्बन्धित ज्ञान की शाखा या शास्त्र"[5] के रूप में

---

1. सांख्य योगो लोकायतं चेन्वान्वीक्षिकी। **अर्थशास्त्र** प्रथम अधिकरण, द्वितीय अध्याय, श्लोक 10
2. साम्रग्यजुर्वेदास्त्रयंयी, अर्थशास्त्र, प्रथम अधिकरण, तृतीय अध्याय, श्लोक 1
3. कृषिपशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता। अर्थशास्त्र, प्रथम अधिकरण, चतुर्थ अध्याय, श्लोक 1
4. Ibid श्लोक 4-5
5. ततः प्रादुर्भमो तासां सिद्धिस्त्रेतायुगे पुनः।
   वार्त्तार्थसाधिकाप्यन्था वृत्तिस्तासां हो कामतः॥ (वायु पुराण 8, 124)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तथा विस्तृत अर्थ में समस्त व्यवसायों के रूप में किया गया है। कौटिल्य के अनुसार धान्य, पशु, सुवर्ण, ताम्रादि अन्य धातु तथा सेवकों की प्राप्ति कराने के कारण वार्त्ता संसार के लिए सबसे अधिक उपयोगी है। राजा भी इस वार्त्ता विद्या के अनुसार उपार्जित कर आदि द्वारा कोष भरता है या दण्ड देने में समर्थ होता है। इस तरह राजा अपने और शत्रु पक्ष के लोगों को वश में रखने में भी समर्थ होता है।[1] कौटल्य कृषि, खनिज तथा पशुधन आदि से तथा व्यक्तिगत सेवाओं से धन का उपार्जन, उसका व्यापार एवं विनिमय तथा उससे होने वाली राजकीय आय-व्यय के विषयों को वार्त्ता के अन्तर्गत रखते हैं। कृषिप्रधान अर्थ व्यवस्था होने के कारण, इस विषय में कृषि पर अधिक बल दिया जाना तथा उद्योग-धन्धों पर अपेक्षाकृत कम जोर देना, स्वाभाविक ही था। वार्त्ता का महत्त्व किसी भी सामाजिक व्यवस्था के लिए कितना अधिक था, यह इस बात से सिद्ध हो जाता है कि कौटिल्य ने अध्ययन के पाठ्यक्रम में इसको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया और राजा को स्वयं इसे राज्य द्वारा नियुक्त विशेषज्ञों से पढ़ने का प्राविधान किया है।[2] व्यावहारिक पक्ष पर अधिक जोर देने की परम्परानुसार वार्ता को ज्ञान के चार प्रमुख भागों में से एक माना गया और उसे व्यावहारिक ज्ञान की श्रेणी में रखा गया। इस प्रकार इसे कला एवं विज्ञान दोनों माना गया। वास्तव में कला एवं विज्ञान का निरर्थक संघर्ष तब के विद्वानों से दूर ही था।

(ग) पुरुषार्थ सिद्धान्त—"अर्थशास्त्र" का क्षेत्र निस्सन्देह वार्त्ता से अधिक विस्तृत है। दूसरी ओर "अर्थशास्त्र" "इकॉनॉमिक्स" की अपेक्षा भी अधिक विस्तृत है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र की विषय-सूची पर ही एक दृष्टि डालने पर इस बात की पुष्टि हो जाती है। विभिन्न विद्याओं एवं अर्थशास्त्र के बीच एक कड़ी है जो इन दोनों को संयुक्त करती है और वह है ज्ञान एवं पुरुषार्थ का

---

1. धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदानादौपकारिकी । तया स्वपक्षं च वशीकरोति कौशदण्डाभ्याम् ॥ (अर्थशास्त्र 1, 4, 2-3)
2. वृतोपनयनस्त्रयीम् आन्वीक्षिकी च विष्टेभ्यः ।
वार्ताम् अध्यक्षेभ्यः दण्डनीति वाक्प्रयोक्तृभ्यः ॥ (अर्थशास्त्र 1, 5, 8)
महाभारत में तो वार्त्ता को जगत् का मूल तथा पालक बताया गया है और कहा है कि जब तक राजा वार्त्ता का उचित पालन करता है, तब तक सर्वत्र कल्याण की सृष्टि होती है।
वार्त्तामलोषं लोकस्य तया वै धार्यते सदा ।
तत्सर्वं वर्तते सम्यम् यथा रक्षति भूमिपः ॥ (वन पर्व 6, 7, 35)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सम्बन्ध। भारतीय पुरुषार्थ सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जीवन के चार उद्देश्य हैं—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। मनुष्यों द्वारा व्यवहृत प्रवृत्तिमार्ग एवं निवृत्ति-मार्ग के अन्तर्गत आने वाले सभी कार्य इन चार प्रकार के उद्देश्यों के अन्तर्गत वर्गीकरणीय हैं। अर्थ एवं काम स्पष्टतः प्रवृत्तिमार्ग के अन्तर्गत आते हैं। दूसरी ओर मानव-कार्य के दो क्षेत्रों का भी संकेत दिया गया है: व्यावहारिक एवं पारमार्थिक। चार पुरुषार्थों में से प्रथम तीन, धर्म, अर्थ एवं काम, क्रमशः नैतिक एवं धार्मिक, आर्थिक तथा ऐश्वर्य सम्बन्धी मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं, और इहलौकिक उद्देश्यों की प्रपूर्ति करते हैं। मोक्ष मनुष्य को पूर्ति की ओर ले जाता है और वहीं निवृत्तिमार्ग का प्रारम्भ होता है।

2—अर्थप्रधानता-भौतिकवाद

इहलौकिक पुरुषार्थों में धर्म का स्थान सर्वोपरि माना गया है। परन्तु "अर्थ-शास्त्र" की प्रसिद्धि का मुख्य कारण यह है कि इसी ग्रन्थ में सर्वप्रथम संस्थापित तथा परम्परागत धर्मप्रधान विचारों के विरोध में अर्थप्रधान विचारों का प्रति-पादन किया गया। इस सम्बन्ध में हम "अर्थशास्त्र" को भारतीय आर्थिक विचारों के इतिहास में लगभग वही स्थान दे सकते हैं जो 16वीं और 18वीं शताब्दी के बीच यूरोप में मर्केंटाइलवाद को प्राप्त हुआ था। कौटिल्य के लिए तीन ऐहलौकिक उद्देश्यों में से "अर्थ" ही प्रथम एवं महत्त्वपूर्ण है।[1] इस प्रकार सदियों से स्थापित धर्मप्रधानता की भावना एवं आदर्शवाद के विरुद्ध कौटिल्य की अर्थ विचारधारा एवं भौतिकवाद का प्रादुर्भाव हुआ। आर्थिक विचारों के इतिहास में भारत में यह एक तरह की क्रान्ति ही थी और "अर्थशास्त्र" को एक भिन्न विज्ञान बनाने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम था। धार्मिक मूल्यों एवं पारलौकिक उद्देश्यों से विमुक्त हो जाना अर्थशास्त्र के विकास के लिए आवश्यक है और एक सीमा तक कौटिल्य का अर्थशास्त्र इसी दिशा में लिखा गया था। इस दृष्टिकोण के अनुसार कौटिल्य ने अर्थशास्त्र को निम्न शब्दों में परिभाषित किया :

"मनुष्यों के व्यवहार को अर्थ कहते हैं। मनुष्यों से युक्त भूमि को भी

---

1. अर्थ एव प्रधान इति कौटल्यः। अर्थमूलो हि धर्मकामाविति ॥ **अर्थशास्त्र**, प्रथम अधिकरण, सप्तम अध्याय, श्लोक 10-11 अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः। **अर्थशास्त्र**—चाणक्य सूत्र 501

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अर्थ कहा जा सकता है। इस प्रकार वृत्ति और भूमि की प्राप्ति, उसके पालन के उपायों के शास्त्र को अर्थशास्त्र कहते हैं।"[1]

इस सम्बन्ध में कौटिल्य इस बात का दावा नहीं करते कि उन्होंने किसी नये शास्त्र की खोज की। उनका कहना है कि प्राचीन आचार्यों ने पृथ्वी के जीतने एवं उसके पालन के उपायों से परिपूर्ण जितने अर्थशास्त्र लिखे हैं, प्रायः उन सबका सार लेकर इस एक अर्थशास्त्र का निर्माण किया गया है।[2] पर इस प्रयत्न में कौटिल्य ने उद्धरण लेने मात्र का कार्य नहीं किया बल्कि उन्होंने प्राचीन आचार्यों के मतों को देने के साथ ही उनके बारे में अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति एवं अपने मौलिक विचारों को भी प्रस्तुत किया है। वास्तव में "अर्थशास्त्र" पुराने आचार्यों के विचारों का संग्रहमात्र नहीं है। यह तो कौटिल्य का मौलिक ग्रन्थ है, इसकी तुलना एडम स्मिथ के 'वेल्थ आफ नेशन्स' से इस सन्दर्भ में की जा सकती है। स्मिथ से पहले अनेकों विद्वानों एवं दार्शनिकों ने धन एवं सम्पत्ति के सम्ब्रन्ध में अनेकों विचार प्रकट किये थे। किसी-किसी ने पूरे ग्रन्थ भी इसी विषय पर लिखे थे, पर अधिकांश ने राजनीति, न्यायशास्त्र धर्मशास्त्र या नीतिशास्त्र के एक अंग के रूप ही में इसका विश्लेषण क्रिया था। एडम स्मिथ ने इन सब विचारों को एक स्थान पर एकत्रित तो किया है पर उससे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य जो उन्होंने किया, वह था इस विषय पर अपने मौलिक विचार प्रस्तुत करना और अर्थशास्त्र को अन्य शास्त्रों से भिन्न एक अलग शास्त्र की श्रेणी में रखना। ठीक यही कार्य कौटिल्य का भी रहा है।

पर इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात जो कौटिल्य के बारे में कही जा सकती है, वह यह कि उन्होंने अर्थशास्त्र को पुरातन नीति, धर्म एवं परम्पराओं के बन्धन से मुक्त कर भौतिकवाद की वास्तविक इहलौकिक धरती पर लाकर रखा। इस प्रकार अर्थशास्त्र धर्मोपदेश मात्र न रह कर वैज्ञानिक अध्ययन का एक अंग हो गया। कौटिल्य के मत में धन एवं अर्थ सर्वोपरि है और इसी का अध्ययन

---

1. मनुष्याणां वृत्तिरर्थः मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः।
तस्याः पृथिव्या लाभ पालनोपायशास्त्रमर्थशास्त्रमिति।
अर्थशास्त्र 15वाँ अधिकरण, प्रथम अध्याय, श्लोक 1-3
2. पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः
प्रस्तावितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्।
अर्थशास्त्र प्रथम अधिकरण, प्रथम अध्याय, श्लोक।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अर्थशास्त्र है। उनका कहना है, "संसार में धन ही मुख्य वस्तु है। धन के ही अधीन धर्म और काम है।[1]" कौटिल्य के पहले के विचारक "अर्थ" को धर्म का मूल[2] मानने को कदापि तैयार नहीं थे और कौटिल्य के विचारों ने भारतीय विचार धारा में एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न कर दी। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि अर्थ के अध्ययन को कौटिल्य ने नीति, न्याय तथा राजनीति से अलग कर दिया हो। वास्तव में ये सब भारतीय दर्शन की विस्तृत धारा के अन्तर्गत ही मिश्रित रूप से आते हैं। पर धर्म एवं काम की अपेक्षा अर्थ की प्रधानता एवं आदर्शवाद के स्थान पर भौतिकवाद कौटिल्य में ही सर्वप्रथम देखने को आया।

3—कौटिल्य अर्थशास्त्र का राजनीतिक आधार

जैसा कि कहा जा चुका है कौटिल्य ने अर्थशास्त्र को राज्यशास्त्र से अलग नहीं किया। वास्तव में यदि देखा जाय तो "अर्थशास्त्र में एक विशेष राजव्यवस्था का वर्णन ही प्रधान है और आर्थिक विषयों का अध्ययन इसी व्यवस्था के अन्तर्गत, तथा राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु ही किया गया है। वैसे भी किसी भी अर्थशास्त्री को आर्थिक विषयों पर अपने विचार तथा मत प्रस्तुत करने से पहले एक विशिष्ट राजतन्त्र की धारणा अपने मस्तिष्क में बनानी ही पड़ती है, अन्यथा वह बहुधा उस क्रीड़ा-शिक्षक की श्रेणी में आ सकता है जो खेल तो फुटबाल का खेलने को कहता है, पर क्रीड़ांगन टेनिस का उपलब्ध करवाता है। कौटिल्य ने इस प्रकार की त्रुटि नहीं की। उन्होंने सर्वप्रथम राज्यतंत्र के एक विशेष ढाँचे को प्रस्थापित किया और फिर व्यवस्थाएँ बनायीं। इस प्रकार कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक तरह से "राजनीतिक अर्थशास्त्र" या "पोलिटिकल इकॉनमी" कहा जा सकता है।

सर्वप्रथम, "अर्थशास्त्र" का विश्लेषण **सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार** के आधार पर टिका हुआ था। भूमि, पशु, भवन तथा अन्य प्रकार की सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार होने पर ही यह सम्भव है कि इन सब पर विभिन्न प्रकार के कर लगाये जा सकें जिनकी कि अर्थशास्त्र में व्यवस्था की गयी है। भूमि के क्रय एवं विक्रय[3] पर एवं अन्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर लगाये गये नियंत्रण भी

1. अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः। अर्थमूलो हि धर्मकामाविति ॥
अर्थशास्त्र प्रथम अधिकरण, सप्तम अध्याय, श्लोक 10-11
2. धर्मस्य मूलमर्थः, चाणक्य सूत्र 2
3. उदाहरणार्थ

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

व्यक्तिगत अधिकार के अस्तित्व की पुष्टि करते हैं[1]। पर इसके साथ ही कौटिल्य ने पूर्णतया अनियंत्रित व्यक्तिगत अधिकार की व्याख्या न कर एक प्रकार से "नियंत्रित पूंजीवाद" की व्यवस्था की थी। सम्पत्ति पर अधिकार व्यक्तिगत होते हुए भी उस पर अनेकों नियन्त्रण भी लगे हुए थे। उदाहरणार्थ यदि खेत का स्वामी अन्यत्र रहने लगे और समय पर बीज न डाले तो उस पर दण्ड का विधान है। इस प्रकार हर व्यक्ति को अपनी भूमि बेचने का या खरीदने का अधिकार नहीं है केवल कर देने वाले, कर देने वालों को ही अपनी भूमि बेच सकते हैं जिनको भूमि ब्राह्मण की रीति पर दान में मिली है, वह ब्राह्मण अपनी भूमि ऐसे ही ब्राह्मणों के पास गिरवी रख सकता है[2]। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति के व्यक्तिगत अधिकार का पालन करने में सार्वजनिक अहित का कोई कार्य करता है तो राज्य उसे सम्पत्ति के अधिकार से वंचित कर सकता है[3]। इसी प्रकार के कई नियंत्रण कौटिल्य द्वारा निर्धारित किये गये हैं जो कि लगभग उसी प्रकार के हैं जैसे कि आज पूंजीवाद के नियंत्रण हेतु कई देशों की सरकारों द्वारा लगाये जाते हैं।

इसके अलावा हर व्यक्ति को अपना निजी व्यवसाय करने एवं उत्पादन-कार्य को सम्पन्न करने की स्वतंत्रता थी। पर यहाँ पर भी अप्रतिबन्धित व्यापार के सिद्धान्त का पालन नहीं होता था। कौटिल्य जनहित के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता को नियंत्रित करने के पक्ष में थे। महाजन उधार दे सकता था, पर

ज्ञातिसामन्तधनिकाः क्रमेण भूमि पदिग्रहान्क्रेतुमस्यामकेयुः आदि।
अर्थशास्त्र, तृतीय अधिकरण, नवम अध्याय।

1. उदाहरणार्थ
दत्तस्याप्रदानमृणादानेन व्याख्यातम्, आदि।
अर्थशास्त्र, तृतीय अधिकरण, षोडश अध्याय।

2. श्रमिकस्याक्षिपतः क्षेत्रमुपवासस्य वा त्यजतो बीजकाले द्वादशपणो दण्डः.....।
करदा करदेष्वाधानं विक्रयं वा कुर्युः ब्रह्मदेयिका ब्रह्मदेयिषु ॥
इत्यादि, अर्थशास्त्र, तृतीय अधिकरण, दशम अध्याय, श्लोक 13-18

3. यदि कृषक स्वयं भूमि को न जोते तो उससे भूमि का स्वामित्व छीना जा सकता था।
अकृषतामाच्छिद्यान्येभ्याः प्रयच्छेत् ॥
अर्थशास्त्र : द्वितीय अधिकरण, प्रथम अध्याय, श्लोक 12

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ब्याज की दर राज्य द्वारा नियत थी। व्यापारी वस्तुएँ बेच सकता था, पर अत्यधिक लाभ कमाने पर दण्ड का भागी भी होता था। इसी प्रकार मजदूर मजदूरी कर सकता था पर राज्य द्वारा नियत समय एवं विधि के अनुसार कार्य न करने पर वह दण्ड का भागी होता था। इसी प्रकार मालिकों के लिए भी नियम निर्धारित थे। वे मजदूरों को काम पर तभी लगा सकते थे जब काम के अनुसार मजदूरी देने के लिए तत्पर हों। यदि मालिक की अपनी त्रुटि के कारण मजदूर काम न कर पाये तो मालिक को पूरी मजदूरी देनी पड़ती थी। वेश्याओं के व्यवसाय पर भी राज्य का नियंत्रण था। वे अपना व्यवसाय राज्य के अन्तर्गत चला सकती थीं, पर उन्हें व्यवहार, दैनिक आय के लेखे तथा व्यवसाय-त्याग के सम्बन्ध में निर्धारित नियमों का पालन करना पड़ता था। इस प्रकार लगभग हर क्षेत्र में स्वतंत्रता होते हुए भी राज्य द्वारा निर्धारित नियमों का पूर्णतः पालन करना पड़ता था। इन सब का विधान "अर्थशास्त्र" में विस्तार सहित मिलता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राज्य का महत्त्व सर्वोपरि था। राज्य द्वारा सर्वव्यापी नियंत्रण ही नहीं लगाये गये थे बल्कि कई क्षेत्रों में राज्य का पूर्ण एकाधिकार भी था। उदाहरणार्थ वन सम्पत्ति[1], खनिज सम्पत्ति के उत्पादन एवं व्यापार[2], वाणिज्य[3], विदेशी व्यापार[4], आदि पर राज्य का पूरा अधिकार था। इसी प्रकार नमक[5] एवं मादक पेयों[6] के उत्पादन एवं व्यापार पर भी राज्य का एकाधिकार था। सूती उद्योग में कौटिल्य द्वारा राज्य द्वारा प्रत्यक्ष एवं अधिकाधिक भाग लेने का विधान बनाया था[7]। द्यूतगृह, पानगृह, एवं गणिकाओं पर राज्य के हस्तक्षेप का विधान मुख्यतया अपराधों का पता लगाने एवं रोकने के उद्देश्य को लेकर बनाया गया था[8]। इस प्रकार के अनेक नियंत्रणों का उद्देश्य

1. अर्थशास्त्र, द्वितीय, अधिकरण, अध्याय 2-3
2. वही, अध्याय 12
3. वही, अध्याय 16
4. वही, अध्याय 16
5. वही, अध्याय 12
6. वही, अध्याय 35
7. वही, अध्याय 23
8. वही, अध्याय 25

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मुख्यतः जनकल्याण था[1]। कौटिल्य के मत में राजा का कल्याण जनता के कल्याण में था और राजा को जनता का अपनी सन्तान की तरह पालन और संरक्षण करना चाहिए[2]। इसी मत के अनुसार उन्होंने जहाँ कहीं पर भी व्यक्तिगत अधिकारों को सर्वहित की सीमाओं का उल्लंघन करते पाया, वहीं पर नियंत्रणों का विधान बना डाला।

इस प्रकार कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' की आर्थिक विचारधारा की राजनीतिक पृष्ठभूमि नियमित व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त पर आधारित थी। जिसमें राज्य का स्थान सर्वोपरि था। इसके अलावा कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में राजनीति के प्रशासन सम्बन्धी विधान के अन्तर्गत हम स्वायत्त संस्थाओं की व्यवस्था भी पाते हैं। ग्राम-सभाएँ एवं उनकी दी हुई सम्पत्ति तथा अन्य प्रकार के अधिकार, विभिन्न पदाधिकारियों का कार्यक्षेत्र आदि तथ्य शक्तिशाली केन्द्रीभूत राज्य के साथ ही प्रभावपूर्ण विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था की पुष्टि करते हैं और इनका वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'अर्थशास्त्र' के सिद्धान्त इसी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत लागू होने के हेतु बनाये गये हैं।

(4) अर्थ-व्यवस्था

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'अर्थशास्त्र' में चित्रित अर्थव्यवस्था, एक प्रकार से आधुनिक 'मिश्रित अर्थव्यस्था' का ढाँचा प्रस्तुत करती है जिसमें कई क्षेत्र तो स्वयं सरकार के हाथ में हैं और शेष सभी पर सरकार का नियंत्रण है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि कौटिल्य राज्य-समाजवाद के पक्षपाती थे[3]। परन्तु यह सत्य है कि कौटिल्य राज्य एवं समाज के अस्तित्व के लिए सम्पत्ति (ममत्व) का अस्तित्व आवश्यक मानते थे। लेकिन यह भी सही है कि अर्थ-

---

1. नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् प्रथम अधि० अध्याय 19, श्लोक 39
2. सर्वत्र चोपहतान्पितेवानुगृहीयात्
   अर्थशास्त्र, चतुर्थ अधिकरण, तृतीय अध्याय, श्लोक 54
3. See M.r Hemchandra Ray's article "Was State Socialism known in Ancient India ?" Sir Ashutosh Mukerjee, Silver Jubilee Volume Vol, III, Orientalia, 1922, Pt. I, pp. 429-46.

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

व्यवस्था एक प्रकार से सुनियोजित थी। प्रतिवर्ष कृषि एवं अन्य व्यवसायों के उत्पादन के आँकड़े इकट्ठे किए जाने का विधान भी 'अर्थशास्त्र' में पाया जाता है[1]। और इसी के अनुसार प्रति वर्ष का उत्पादन नियोजित किया जाता है।

वार्त्ता एवं कृषिप्रधान 'अर्थशास्त्र' में कृषि का मुख्य व्यवसाय के रूप में वर्णित होना स्वाभाविक ही है। वास्तव में कौटिल्य के समय की अर्थव्यवस्था कृषिप्रधान अर्थव्यवस्था थी। कृषि के क्षेत्र ही में कौटिल्य द्वारा अधिकांश प्रस्ताव एवं विचार रखे गये हैं। सर्वप्रथम 'अर्थशास्त्र' में ग्रामों के आयोजन, भवन-निर्माण एवं संरक्षण के लिये तो विस्तृत विधान[2] मिलता है परन्तु नगरों के सम्बन्ध में दुर्ग के निर्माण एवं संरक्षण राजा के भवन एवं हरम के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। इससे यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का आधार ग्रामीण अर्थव्यवस्था ही मुख्यतः रही है। आठ सौ गाँवों के बीच केवल एक नगर बसाने का विधान है[3]।

इसके अतिरिक्त कौटिल्य ग्रामों में भी शूद्र (शिल्पी) एवं कृषकों को ही अधिकतर बसाने का सुझाव देते हैं[4]। इस प्रकार कृषि के साथ कुटीर उद्योगों की भी व्यवस्था है। पर वृहद् आकार के शिल्पशाला-उद्योगों के अस्तित्व का आभास हमें केवल इस बात से होता है कि जब कि कौटल्य मजदूरों के विस्तृत विधान का वर्णन करते हैं[5]। परन्तु पूरे अर्थशास्त्र का अध्ययन करने पर पता चलता है कि कृषि पर ही अधिक बल दिया गया है और यह श्रमिक विधान भी ग्रामीण श्रमिकों के सम्बन्ध में बनाया हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि उद्योग-धन्धों का सर्वदा अभाव था। उद्योग-धन्धे उस काल में भारत में काफी पनप चुके थे, पर कौटिल्य की दृष्टि में कृषि का व्यवसाय सबसे महत्त्वपूर्ण था और उन्होंने 'अर्थशास्त्र' में इसी को प्रमुख स्थान दिया।

---

1. कोषागाराध्यक्षः सीताराष्ट्रक्रयिमपरिवर्तक प्राभित्यकापमित्यर्कासिहानिक्रान्य-जातव्यपप्रत्ययोपस्थानान्युपलभेत्।
   अर्थशास्त्र अधि० 2, अध्याय 4, श्लोक।
2. अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, अध्याय।
3. अष्टशत ग्राममध्ये स्थानीयं। अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, अध्याय 1, श्लोक 4
4. शूद्रकर्षक प्रायं........। अर्थशास्त्र, द्वितीय अधि०, अध्याय 1, श्लोक 2
5. अर्थशास्त्र, तृतीय अधिकरण, अध्याय 13-14

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कृषि के क्षेत्र में भी जो मुख्य बल दिया गया है वह उत्पादन की वृद्धि पर है। खेतों को समय पर जोतने, बोने एवं गोड़ने का विधान है। ऐसा न करने वाले कृषकों के लिए दण्ड का विधान है। वर्षा के समय एवं मात्रा सम्बन्धी आँकड़े भी दिये गये हैं, सिंचाई के साधनों के विकास पर अधिक जोर दिया गया है। बंजर भूमि को जोतने के लिए प्रस्ताव रखा गया है[1]। कृषि के लिये पूंजी एवं ब्याज की विशेष व्यवस्था है[2]। वास्तव में अन्न की महत्ता पर अत्यधिक जोर है[3]।

इस प्रकार 'अर्थशास्त्र' में ब्रिटिश संस्थापकवादी अर्थशास्त्रियों की भाँति उत्पादन पर अधिकतम जोर दिया गया है। पर यह कदापि न भूलना चाहिये कि यह सब जनता के कल्याण के हेतु ही किया गया है क्योंकि असन्तुष्ट प्रजा वाले राजा की दशा एक पहिये की गाड़ी के समान होती है[4]।

अर्थशास्त्र के मूल में निहित जो सामाजिक वर्ग व्यवस्था—अर्थात् वर्ण व्यवस्था—है, वह भी उत्पादन-प्रमुख ही प्रतीत होती है क्योंकि इसमें से दो वर्ग—वैश्य एवं शूद्र—पूर्णरूपेण उत्पादक वर्ग हैं। शिक्षक एवं सैनिक वर्ग को उत्पादन में लाना, सांस्कृतिक एवं संरक्षणात्मक कारणों से उचित नहीं है। इस प्रकार समाज के कुल उपभोग का चिट्ठा स्पष्ट रूप से सामने आ जाता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार फ्रेन्च भौतिकवादी (फिजियोक्रेट) अर्थशास्त्रियों की आर्थिक सारिणी में देखने को मिलता है।

5—व्यापार[5]

कौटिल्य उत्पादित पदार्थों के व्यापार तथा विपणन के विषय में भी उतने

---

1. अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, अध्याय 2
2. धान्यवृद्धिः सस्यनिष्पत्तावुपास्थविरं मूल्यकृता वर्धेत।
   अर्थशास्त्र, तृतीय अधिकरण, 11वाँ अध्याय, श्लोक 8
3. अन्नदानं भ्रूणहत्यामति मार्ष्टि। कौटिल्य सूत्र, 413]
4. नैकं चक्रं परिभ्रमाति, चाणक्य सूत्र 17
5. व्यापार के सम्बन्ध में कौटिल्य ने कुछ परिभाषाएँ दी हैं जो निम्न प्रकार हैं :

   1—वाणिज्य या क्रयिकः—धान्य के बेचने से प्राप्त धन, राजकीय द्रव्य से खरीदा हुआ धान्य तथा ब्याज के रूप में प्राप्त धान्य क्रयिक कहलाता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ही सजग थे जितने उनके उत्पादन की वृद्धि के सम्बन्ध में। कौटिल्य के "अर्थशास्त्र" में वस्तुओं के व्यापार का क्षेत्र केवल राज्य की सीमाओं तक ही सीमित नहीं था, बल्कि विदेश में भी था। व्यापार का निर्वाह स्थान-स्थान पर वस्तुओं की माँग एवं पूर्ति के आधार पर ही होता था और इसी आधार पर वस्तुओं के मूल्य भी निर्धारित होते थे। पण्याध्यक्ष के लिए यह आवश्यक था कि वह स्थल एवं जल में उत्पन्न अनेक प्रकार की वस्तुओं, तथा स्थल मार्ग से आने वाली सार, लकड़ी आदि और फल्गु वस्त्र आदि के मूल्य के तारतम्य तथा उनकी प्रियता और अप्रियता का ज्ञान रखे, तथा किस पदार्थ का अधिक तथा किस का स्वल्प संग्रह रखना चाहिए किसको रखना तथा किसे बेच देना उचित है, इस सम्बन्ध में उचित सूचना एवं सुझाव दे।[1]

यह पहले ही बताया जा चुका है कि राज्य-व्यापार की प्रधानता थी। समस्त उत्पादन में से राजा द्वारा आधा भाग देश की रक्षा के निमित्त रख लेने एवं शेष आधे को प्रजा के उपयोग के लिए प्रदान करने का विधान किया गया है[2]। जो अपनी भूमि में उत्पन्न राजा की विक्रेय वस्तु है, उसके उसी स्थान पर बेचने का विधान है। अन्य वस्तुएँ पृथक्-पृथक् बिकनी चाहिए। दोनों प्रकार की वस्तुओं के बेचने में राजा को प्रजा के लाभ का ध्यान रखना चाहिए। यदि राजा को अत्यधिक लाभ और प्रजा को कष्ट हो रहा हो तो कौटिल्य का प्रस्ताव है कि इस लाभ को कम कर दिया जाय[3]। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कौटिल्य

2—**परिवर्तन या वस्तुविनिमय:**—एक धान्य से दूसरे आवश्यक धान्य को खरीदना **परिवर्तन** कहलाता है।

3—अन्य से धान्य आदि आवश्यक वस्तु माँग लेना **प्रामत्यक** कहलाता है।

4—लौटाने की प्रतिज्ञा पर ग्रहण किये धान्य **आपमत्यक** कहलाते हैं।

5—पिछला शेष प्राप्त करना **पर्युषित** कहलाता है। अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण पंचदश अध्याय, श्लोक 4-11

1. पण्याध्यक्षः स्थलजलजानां नानाविधानां पण्यानां स्थलपथवारिपथो प्रयातानां सारफल्ग्वार्घरन्तिरं प्रियाप्रियतां च विघात्। तथा विक्षेपसंक्षेप क्रयविक्रय प्रयोग कालान् ॥ अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, 16 वां अध्याय श्लोक।

2. ततोऽर्ध्रमापदर्थ नानापदार्थ स्थापयेत् अर्धमुपयुंजति ॥
अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, 15 वाँ अध्याय, श्लोक 23-24

3. स्थूलमपि च लाभं प्रजानामौपघातिकं रयेत्
द्वितीय अधिकरण, 16वाँ अध्याय, श्लोक 8

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

द्वारा प्रस्तावित राज्य-व्यापार जनता के हित में ही व्यवस्थित किया गया है।

कौटिल्य द्वारा विभिन्न राजकीय व्यापारिक एवं आर्थिक संस्थाओं का जो विधान बताया गया है उसके मुख्यतः दो उद्देश्य हैं—राज्य की आय में वृद्धि एवं उपभोक्ता को संरक्षण। वैधिक व्यापार में राज्य की सहायता आवश्यक मानी गई है। राज्य द्वारा व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए यातायात तथा संचार-वाहन के साधनों के विकास की ओर ध्यान देना बहुत महत्त्वपूर्ण समझा गया है। चुंगी एवं सीमाकर एक तरह से आवश्यक बुराइयाँ समझी गयी हैं।[1] नदियों के किनारे नाव घाटों की व्यवस्था का भी विधान है। राज्य का यह भी कर्त्तव्य है कि वे व्यापारियों की सुविधा के लिए स्थान-स्थान पर विश्रामगृह एवं वस्तु-भाण्डारगृहों का निर्माण करें। सम्पूर्ण व्यापार स्वतन्त्र है अर्थात् वस्तु-विशेष या व्यापारी-विशेष के साथ कोई भेदभाव नहीं बरता गया है।

कौटिल्य ने न केवल आन्तरिक व्यापार के प्रोत्साहन पर जोर दिया, बल्कि विदेशी व्यापार की वृद्धि के लिए भी उन्होंने अनेक विधान बनाए। विदेशी व्यापार इस अर्थ में उन्मुक्त था कि देश के अन्दर उत्पादित वस्तुओं के व्यापार को विदेशी वस्तुओं की स्पर्धा में किसी प्रकार की प्राथमिकता या वरीयता नहीं प्रदान की जाती थी। आयातों को प्रोत्साहित करने के लिये कौटिल्य ने यह प्रस्ताव रखा कि—'विदेश में उत्पन्न वस्तुओं को राजा सानुग्रह मँगाये। नाविकों एवं विदेशी माल आयात करने वाले व्यापारियों को व्यापार-करों से मुक्ति दी जाय ताकि उनको समुचित लाभ प्राप्त हो सके। विदेश से आने वाले व्यापारियों का लेनदेन बिना सरकारी स्टाम्प के हो जाना चाहिए परन्तु इसके साथ लेनदेन करने वाले 'सभ्य' (देशीय व्यापारी) हों, उनका अभियोग स्टाम्प आदि अवश्य होना चाहिए[2]।' परन्तु कौटिल्य इस बात के बारे में भी सजग थे कि विदेशी व्यापार से लाभ अवश्य होना चाहिए। आयात को प्रोत्साहन देने के साथ ही साथ उन्होंने इस बात का भी ध्यान रखा कि निर्यात की गयी वस्तुएँ सलाभ बिकें। 'पण्याध्यक्ष देशी वस्तुओं की तुलना में उन विदेशी वस्तुओं के मूल्य का अनुमान लगाये जो विनिमय में प्राप्त शुल्क, बर्तानी, अतिवाटिका,

---

1. अर्थशास्त्र द्वितीय अधिकरण, अध्याय 21-22
2. परभूमिजं पण्यमनुग्रहेणावाहयेत्। नाविकसार्थ वहिभ्यश्च परिहारमायतिक्षयं दद्यात्। अभियोगश्चार्थेष्वागन्तूनामन्यत्र सभ्योपकारिभ्यः॥
   अर्थशास्त्र द्वितीय अधिकरण, सोलहवाँ अध्याय, श्लोक 15-17

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

गुल्मदेय, तरादेय, मक्त (व्यापारी की जीविका) तथा विदेशी राजा के 'भाग' का भुगतान कर देने के बाद कुछ लाभ बचता है कि नहीं। यदि देशी वस्तुओं को विदेशी बाजार में बेचने पर कोई लाभ न दिखाई पड़े तो इस बात की जाँच करनी चाहिए किसी दूसरी वस्तु को विदेशी बाजार में बेचने से लाभ कमाया जा सकता है कि नहीं[1]।' जहाँ लाभ हो वहीं सामान बेचना चाहिए लाभ रहित स्थान को दूर से ही त्याग देना उचित है।[2]

आयात-निर्यात को प्रोत्साहित करने की नीति के साथ ही साथ कौटिल्य कुछ वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध आरोपित करते हैं तथा उनके आयात को विशेष रूप से प्रोत्साहित करते हैं। उनके अनुसार अस्त्र, शस्त्र, सैन्य-अश्व, पशु एवं अन्न, इन सभी का निर्यात वर्जित है। इन वस्तुओं को उपलब्ध करने पर विशेष महत्त्व दिया गया है जो इस बात से स्पष्ट है कि इन वस्तुओं का आयात निःशुल्क एवं करमुक्त था। विदेशी व्यापार को नियंत्रित एवं प्रशासित करने का सामान्य सिद्धान्त यह था कि जो वस्तुएँ राज्य तथा जनता के लिये अत्यन्त उपयोगी हों और जिनके निर्यात से हानि पहुँचती हो उनका निर्यात न किया जाये। उन वस्तुओं को प्रोत्साहित किया जाय जो राज्य के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। दुर्लभ बीजों आदि का आयात कर से मुक्त होना चाहिये[3]।

व्यापार की सुविधा के लिये उचित द्रव्य-व्यवस्था एवं नाप-तौल की व्यवस्था की गई थी। कौटिल्य ने द्रव्य के दो प्रमुख कार्य माने हैं। विनिमय का माध्यम एवं कोष में धन जमा करने के लिये विधिग्राह्य माध्यम।[4] यह कहा जाता है कि उस काल में प्रामाणिक सिक्का स्वर्ण का था अर्थात् मुद्रामान—स्वर्ण मुद्रामान था। पर कौटिल्य के अनुसार प्रामाणिक सिक्का "पण" था जिसको बनाने के लिए

---

1. परविषये तु पण्य प्रतिपण्ययोरर्घमूल्यं चागमप्य शुल्कवर्तन्यातिवाहिकगुल्म-तरदेयभक्त भटिक व्यय शुद्धमुदयं पश्येत्। असत्युदये भाण्डनिर्वहणेमपण्यप्रति पण्यार्घेण व लाभं पश्येत।
   अर्थशास्त्र द्वितीय अधिकरण, सोलहवां अध्याय, श्लोक 22-23
2. यतो लाभस्ततो गच्छेदलाभं परिवर्जयेत्। उपर्युक्त अध्याय श्लोक 29
3. राष्ट्रपीडाकरं भाण्डमुच्छिन्द्यात् अफलं च यत्।
   महोपकारं उच्छुल्कं कुर्यात् बीजं च दुर्लभम्॥
4. रूपदर्शकः पण्याभ्यां व्यावहारिको कोशप्रवेश्यां च स्थापयेत्।
   अधिकरण 2, अध्याय 12, श्लोक 29

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

चार माशा ताँबा, एक माशा तीक्ष्ण त्रपु-शीशा या अञ्जन और शेष ग्यारह माशा चाँदी का योग आवश्यक है।[1] पर यह कहा जा सकता है कि मुद्रामान स्वर्ण विनिमय मान था क्योंकि अन्य प्रकार के सिक्कों—सांकेतिक सिक्कों—का मूल्य, स्वर्ण के रूप में निर्धारित था। साथ ही स्वर्ण एवं चाँदी की विनिमय दर भी निर्धारित थी। "यदि कोई स्वर्णकार सोने की खान से एक माशा सोना चुरा ले तो उस पर 200 पण दण्ड होगा। यदि कोई इतना ही चाँदी चाँदी की खान से चुरा ले तो उस पर 12 पण दण्ड होगा।"[2] इस प्रकार स्वर्ण और चाँदी की विनिमय दर 12 = 200 या $1 = 16\frac{2}{3}$ हुई। विनिमय की सुविधा के लिए प्रामाणिक सिक्के—पण—के अतिरिक्त छोटे सिक्के अर्धपण (अठन्नी), पादपण (चवन्नी), एवं अष्ठभाग (दुअन्नी) पण के ही अनुपात के धातु मिश्रण से बनायी जाने का विधान है। इसके अलावा कौटिल्य पण के चौथाई भाग के मूल्य के बराबर एक ताँबे के सिक्के की भी व्यवस्था करते हैं, जिसे माषक कहते हैं। इसका धातु-मिश्रण ग्यारह माशा ताँबा, चार माशा चाँदी एवं एक माशा लोहे से बना होगा। इसी अनुपात से अर्धमाषक (काकणी) एवं अर्धकाकणी नाम के सिक्कों का भी विधान है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विनिमय की सुविधा के लिए चाणक्य ने जिस मुद्रा-व्यवस्था का विधान बनाया है वह मितव्ययी, सुविधाजनक, सरल एवं लोचदार है। किसी एक धातु की दुर्लभता होने पर दूसरे धातु के उपयोग से भी सिक्के बनाये जा सकते हैं। इस बात पर बल नहीं दिया गया है कि मूल्यवान धातु के सिक्के बनें, पर जो सिक्के बनें वह प्रामाणिक धातु-मिश्रण से ही बनें। इस प्रकार जो बल है वह इस बात पर है कि द्रव्य स्वयं मूल्यवान न होकर विनिमय का एक माध्यम है और साथ ही इस माध्यम की प्रामाणिकता पूर्णरूप से विश्वसनीय होनी चाहिए। सिक्कों की ढलाई का कार्य सरकार द्वारा नियुक्त स्वर्णकार के हाथ में है और अपने कर्त्तव्यों से च्युत होने पर उसके लिए विभिन्न प्रकार के दण्डों का विधान बनाया गया है।

कौटिल्य इस दिशा में भी सजग थे कि व्यापार के विकास के लिए न केवल यातायात के साधनों एवं सुदृढ़ व्यवस्था अपेक्षित है, बल्कि बाँटों एवं मापों

---

1. लक्षणाध्यक्षश्चतुर्मात्रम्रं रूप्यरूपं तीक्ष्णत्रपुसीसा अञ्जनामन्यतमं माषबीज-युक्तं कारयेत् पणम्। द्वितीय अधिकरण, अध्याय 12, श्लोक 27
2. सुवर्णान्माषकमपहरतो द्विशतो दण्डः। रूप्यधरणा—माषकमाहरतो द्वादशपणः चौथा अधिकरण, अध्याय 1, श्लोक 43-44

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

की प्रामाणिकता का होना भी आवश्यक है। तौल एवं माप के नियमन एवं निरीक्षण के लिए पौतवाध्यक्ष की व्यवस्था की गयी थी, कौटिल्य द्वारा दी गयी तौलों की व्यवस्था निम्न प्रकार है[1] :—

10 मासबीज या पांच रत्ती = 1 स्वर्ण माषा
16 स्वर्ण माषा = 1 सुवर्ण या कर्ष
चार कर्ष = 1 पल
88 सरसों के दाने = 1 रूप्य माषा
16 रूप्य माषा = 1 धरण
20 चावल = 1 वज्रधरण (हीरे की तौल)

इसके अलावा अर्धमाशा, दो माशा, चार माशा, आठ माशा, एक सुवर्ण, दो सुवर्ण, चार सुवर्ण, दश सुवर्ण, बीस सुवर्ण, तीस सुवर्ण, चालीस सुवर्ण, और सौ सुवर्ण तक के बाँट बनवाने का विधान है। इसी हिसाब से धरण नामक बाँटों के बनवाने की भी व्यवस्था है।

इसी प्रकार से वस्त्र, भूमि आदि नाप कर बेची जाने वाली वस्तुओं के लिए कौटिल्य ने नाप का भी विधान बनवाया है।[2]

आठ परमाणु = एक धूल की कण (रथ के पहिए द्वारा उड़ाई गयी)
आठ धूलकण = 1 लिक्षा
आठ लिक्षा = 1 यूकामध्य
आठ यूकामध्य = 1 यवमध्य
आठ यवमध्य = 1 अंगुल
4 अंगुल = 1 धनुग्रह
8 अंगुल = 1 धनुर्मुष्टि
12 अंगुल = 1 वितस्ति या छायापौरुष
दो पद = 1 हस्त

---

1. पौतवाध्यक्षः पौतवकर्मान्तान्कारयेत्। धान्यमासा दश सुवर्ण माषकः यञ्ज व गुञ्जाः। ते षोडस सुवर्णः कर्षो वा। चतुर्कशः पलम्। अष्टाशीतिर्गौर-सर्षपा रुप्यमाषकः। ते षोडश धारणम् शैव्यानि वा विशांति। विशांति तंडुल वज्रधरणम्।

अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, 19वां अध्याय, श्लोक 1-8

2. अर्थशास्त्र द्वितीय अधिकरण, अध्याय 20

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

84 अंगुल = 1 व्योम
108 अंगुल = 1 गार्हपत्य धनुष
आदि, आदि

इसी प्रकार से कौटिल्य ने समय आदि के मापमान भी दिए हैं। इन सब प्रकार के मापों के सरकार द्वारा नियंत्रण एवं समय-समय पर निरीक्षण की व्यवस्था है ताकि इनमें निर्माण एवं उपयोग में किसी प्रकार की अनुचित व्यवस्था न हो सके।

इस प्रकार के विस्तृत मापों एवं मानों को लिखित रूप में देने एवं सरकार द्वारा उनके नियन्त्रण की मंत्रणा करने में कौटिल्य दो प्रकार के उद्देश्यों से प्रभावित थे। सर्वप्रथम तो यह कि व्यापारियों को एवं क्रेताओं को किसी प्रकार की असुविधा या कष्ट न हो और कोई एक दूसरे को ठग न सके। इसके अतिरिक्त देश की एकता को सुदृढ़ बनाने के हेतु यह भी चाहते थे कि पूरे राज्य में एक ही राजा के अन्तर्गत रहने वाली प्रजा में एक ही प्रकार की मुद्रा, माप तौल एवं मापों का प्रचलन हो। इस सम्बन्ध में कौटिल्य का यह प्रयास यूरोपीय वाणिज्य-वादी अर्थशास्त्रियों के समान ही पड़ता है।

6—आर्थिक प्रगति के सम्बन्ध में कौटिल्य के विचार

हम पहले ही देख चुके हैं कि कौटिल्य उत्पादन को अर्थव्यवस्था में सर्वप्रथम स्थान देते हैं। उनके विचार में आर्थिक प्रगति का मुख्य स्रोत उत्पादन वृद्धि ही है। राज्य के हितों को वरीयता अवश्य दी गयी है, पर इस बात की स्पष्ट घोषणा की गयी है कि राज्य की शक्ति भी अर्थव्यवस्था के उत्पादन की मात्रा पर ही निर्भर रहती है, कौटिल्य की दृष्टि में भूमि, जनसंख्या एवं पूंजी ये सभी उत्पादन के प्रमुख साधन होने के कारण आर्थिक प्रगति के कारक हैं। इन सभी की उपलब्धि, वृद्धि, संरक्षण एवं उपयोग के सम्बन्ध में कौटिल्य ने व्यवस्थाएँ बनायी हैं। व्यवसायों में कृषि का ही स्थान सर्वोपरि है और उसी की उन्नति से अर्थव्यवस्था की प्रगति सम्भव है।

(1) **भूमि**—कृषि की प्रधानता होने के कारण यह स्वाभाविक है कि भूमि की व्यवस्था एवं सुधार पर सबसे अधिक ध्यान दिया गया है, भूमि ही राज्य की आय का सबसे बड़ा स्रोत भी थी[1]। अर्थशास्त्र की परिभाषा में ही यह स्पष्ट

1. देखिये अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, अध्याय 1, 2, 5, 15, 16, 17, 21, 22, 24, 26, 29, 30, 31

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है कि इसका सीधा सम्बन्ध भूमि की प्राप्ति एवं उपयोगों से है। अर्थशास्त्र में हमें वर्षा, नदी, नहर, तालाब तथा यंत्रों से सिंचाई, उर्वरकों, के उपयोग, फसलों के हेर-फेर, भूमि के अनुसार फसल बोना और भूमि को फसल के उपयुक्त बनाना, गहन एवं विस्तृत कृषि के सापेक्षिक लाभ, भूमि के टुकड़े होने की हानियों, कृषकों को ही भूमि का स्वामी बनाना आदि बातों का स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है। स्पष्ट है कि ये सभी भूमि के संरक्षण एवं उत्पादन की वृद्धि के हेतु बनाये गये विधान हैं। कौटिल्य ने किस प्रकार कृषि के संरक्षण के लिए, कृषि के उत्पादन पर बुरा प्रभाव डालने वाले तत्त्वों एवं व्यक्तियों का ग्राम से बहिष्कार करने की नीति अपनायी यह उनके निम्न कथन से स्पष्ट हो जाता है—

"नट, नर्तक, गायक, वादक तथा अन्य वाणी से जीविका करने वाले तथा कथावाचक कृषिकार्यों में विघ्नकारी कर्म न करें। इनमें उपद्रव करा देने की शक्ति होती है। गाँवों में नाट्यशाला आदि भोग-सामग्री के न होने से प्रत्येक जन अपने कृषि कार्यों में लगा रहेगा। इसी से कोष, द्रव्य, धान्य रस की वृद्धि एवं कठिन श्रमसाध्य कर्म होते रहते हैं[2]।" कहने का तात्पर्य यह है कि कौटिल्य का यह मत है कि राज्य तथा समाज द्वारा हर कार्य कृषि की समृद्धि के हेतु करना चाहिये। बेकार पड़ी हुई भूमि को जोत के अन्तर्गत लाना चाहिए[3]। कृषि न करने वाले भूमिपतियों की संख्या में कमी होनी चाहिए[4]। इस प्रकार हम देखते हैं कि कौटिल्य ने भूमि के उपयोग उपजाऊपन[5] एवं संवर्धन के लिए हर प्रकार

---

1. पृथिव्यां लाभे पालने च.......इत्यादि, प्रथम अधिकरण, प्रथम अध्याय, प्रथम श्लोक
2. नट नर्तनगायनवादक वाग्जीवनकुशीलवा वा न कर्मविघ्नं कुर्वः।
   निराश्रयत्वाद् ग्रामाणां क्षेत्रामिरतत्वाच्च पुरुषाणां कौशविष्टिद्रव्य धान्यरस वृद्धिभवतीत्ति।
   अर्थशास्त्र द्वितीय अधिकरण, अध्याय 1 श्लोक 42-43
3. करदेम्यः कृतक्षेत्राणि एकपुरुषिकाणि प्रयच्छेत्। अकृतानि कर्त्तृभ्यो न देयात्।
   अर्थशास्त्र द्वितीय अधिकरण, प्रथम अध्याय।
4. अकृषतामाच्छिद्यान्येम्यः प्रयच्छेत्।
   अर्थशास्त्र द्वितीय अधिकरण, प्रथम अध्याय, श्लोक 12
5. सप्तम अधिकरण, 11 वां अध्याय।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के साधनों एवं विधानों की व्यवस्था की है जिनसे यह स्पष्ट होता है कि वे अर्थ-व्यवस्था में भूमि की प्रधानता देते थे।

(2) **जन-संख्या**—भूमि के साथ ही उस पर कार्य करने वाले श्रमिकों का भी यथार्थ में तथा उचित प्रकार का होना आवश्यक है। कौटिल्य ने श्रम की महत्ता को भलीभाँति माना है। यह इस बात से स्पष्ट है कि वे श्रम के शोषण, कम वेतन एवं अधिक कार्य के विरुद्ध विधान की व्यवस्था करते हैं[1]। यह निस्सन्देह सत्य है कि श्रमिक वर्ग का मुख्य भाग वैश्य एवं शूद्र वर्ग से ही आता है, पर ये दोनों वर्ग मिलकर समाज का एक बहुत बड़ा भाग बन जाते हैं।

कौटिल्य या किसी भी प्राचीन भारतीय विचारक के मस्तिष्क में जनसंख्या के सम्बन्ध में माल्थस के समान भय नहीं प्रतीत होता। विस्तृत बंजर भूमि के होते हुए उन्हें जनसंख्या की वृद्धि पर कोई आपत्ति नहीं थी। इसके विपरीत वे इस बात के पक्ष में थे कि देश को जनशक्ति में यथासम्भव वृद्धि हो। कौटिल्य इस परम्परागत मत के विरुद्ध हैं कि थोड़े से बलशाली लोग अधिक उपयुक्त हैं। उनका कहना है कि, 'बहुत से हाथी यदि अशक्त हों तब भी राज्य के कल्याण में समर्थ हो सकते हैं........बहुत से अशिक्षित हाथियों को सिखा-पढ़ाकर शूरवीर बनाया जा सकता है, पर थोड़े हाथियों की संख्या को बहुत नहीं बनाया जा सकता है[2]।' इसी कारण कौटिल्य जनसंख्या में वृद्धि के पक्ष में है। उन्होंने पति-पत्नी के यौन सम्बन्धों के बारे में जो नियम बनाए हैं वे इस बात के साक्षी हैं कि वे जनशक्ति के विकास पर बहुत अधिक बल देते थे। स्त्री के ऋतुकाल में यदि पुरुष गमन न करे तो पुरुष पर कौटिल्य ने बहुत ऊँचे (96 पण) दण्ड की व्यवस्था की है[3]। "भार्या पुत्रोत्पत्ति की लालसा से कोढ़ी या पागल मनुष्य के साथ भी सम्भोग कर सकती है[4]।" इस प्रकार की उक्तियाँ किसी भी प्रकार से जनसंख्या की वृद्धि का समर्थन करती हैं।

पर साथ ही यह कहना भी त्रुटिपूर्ण होगा कि कौटिल्य ने जनसंख्या की मात्रा पर अधिक और उसके गुणों एवं स्तर पर कम ध्यान दिया। कौटिल्य यह भी चाहते थे कि समस्त लोगों को स्वास्थ्यवर्धक भोजन पर्याप्त मात्रा में मिले।

---

1. तृतीय अधिकरण, अध्याय 13
2. सप्तम अधिकरण, अध्याय 11
3. तीर्थगूहनानमने पण्णवतिर्दण्डः। तृतीय अधिकरण, अध्याय 2, श्लोक 55
4. स्त्री तु पुत्रार्थमेवंभूतं वोपगच्छेत। तृतीय अधिकरण, अध्याय 2, श्लोक 58

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वे जानते थे कि मनुष्य धन का साधन एवं उद्देश्य दोनों हैं। कौटिल्य के अनुसार "लगातार शुद्ध किया गया अखण्ड एक सेर चावल, चौथाई भाग दाल, दाल का सोलहवाँ भाग नामक, दाल के पानी का चौथा भाग घृत एक योग्य पुरुष का भोजन होता है। इसका तीन चौथाई स्त्रियों के लिए तथा आधा बच्चों के लिए उपयुक्त भोजन है[1]। इस प्रकार कौटिल्य ने संख्या के साथ ही मनुष्यों के शक्तिवान एवं कुशल होने का भी समर्थन किया है।

(3) **पूंजी**—"अर्थशास्त्र" के अनुसार राज्य कार्य, निर्माण कार्य, व्यापार, कृषि सुधार, आदि कार्यों में पूंजी का, उत्पादन के एक साधन के रूप में, बड़ा महत्त्व है। जहाँ तक पूंजी के स्रोत का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि भूमि एवं कृषि का व्यवसाय ही मुख्यतः ।अतिरेक का उत्पादक माना गया है, और पूंजी-निर्माण का मुख्य मार्ग है, राज्य द्वारा इस व्यवसाय से पर्याप्त मात्रा में कर लिया जाना। कौटिल्य यह जानते थे कि द्रव्य के प्रचलन में विकास हो जाने से अपव्यय के अवसर अधिक उत्पन्न होते हैं इसीलिए उन्होंने इस बात का प्रस्ताव किया कि आन्तरिक व्यापार अधिकांश वस्तु-विनिमय के ही आधार पर किया जाय। इसके अलावा वे राजा द्वारा कर के रूप में ली गयी पूंजी के अपव्यय से भी शंकित थे अतः उन्होंने अपव्ययी राजा (अत्यासन्न राजनः) को कृषि के छः शत्रुओं में से एक बताया। बचत एवं पूंजी की वृद्धि के अभियान के ही अन्तर्गत कौटिल्य ने विलासिताओं के उपभोग पर अवरोध लगाने का भी विधान बनाया। उनके अनुसार रेशमी कपड़े, शराब, हाथी दांत, ऊनी वस्त्र आदि पर तो 6 प्रतिशत से लेकर 10 प्रतिशत तक कर लगना चाहिये, पर साधारण वस्त्र, नमक, तेल, लकड़ी, पका अन्न आदि पर केवल 4 से लेकर 5 प्रतिशत ही कर लगना चाहिये।[2] यह तथ्य कि कौटिल्य ने धार्मिक विचारकों के विपरीत ब्याज लेने

---

1. अखण्ड परिशुद्धानां व ताण्डुलानां प्रस्थं चतुर्भागः सूपः सूपशोडयो लवणस्यौशं चतुर्भागः सर्पिषः तैलस्य वा एकमार्चभक्तम्। पादोनं स्त्रीणाम्। अर्ध बालानाम्।
   द्वितीय अधिकरण, अध्याय 15, श्लोक 61-65।
   पुरुष, स्त्री एवं बच्चों के भोजन की आवश्यकता के बारे में आधुनिक विचारक Rowntree आदि के भी यही मत हैं। Ct. Rowntree Human Needs Labour, 1918.

2. अर्थशास्त्र; दूसरा अधिकरण, अध्याय 22

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

और देने को औचित्यपूर्ण कार्य बतलाया, इस बात का द्योतक है कि वे उत्पादन में पूंजी के महत्त्व को मान्यता देते थे। इसके साथ ही उन्होंने विभिन्न उपयोग के लिए ली गयी पूंजी पर विभिन्न दर पर ब्याज निर्धारित किया जिससे यह ज्ञात होता है कि वे विभिन्न व्यवसायों में पूंजी की उत्पादकता के प्रति भी सजग थे।

"सवा पण प्रतिशत प्रतिमास ब्याज औचित्यपूर्ण है। व्यापार के लिए दी गयी पूंजी पर पाँच पण प्रतिशत ब्याज ठीक है। अन्य-व्यवसायों पर दस पण प्रतिशत प्रतिमास ब्याज है। समुद्र द्वारा विदेश में व्यापार करने वालों से बीस पण प्रतिशत प्रतिमास ब्याज लिया जाना चाहिये।[1]

7—व्यक्तिगत आयों का निर्धारण

यह कहना सत्यता से दूर होगा कि प्राचीन भारत में आर्थिक असमानता नहीं थी। कौटिल्य के समय तक वर्ण-व्यवस्था एवं उस पर आधारित सम्पत्ति-अधिकार पर्याप्त सीमा तक विकसित हो चुके थे और इसी के फलस्वरूप आर्थिक असमानताओं का अस्तित्व भी अवश्यम्भावी था। सम्भवतः इन्हीं असमानताओं की वृद्धि को रोकने के लिए कौटिल्य को इस बात की घोषणा करनी पड़ी हो कि भूमि पर उसका अधिकार न रहे जो उसे जोतता नहीं, और हर व्यवसाय के लिए आय निर्धारित होनी चाहिए। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य ने धन के वितरण के लिए दो सिद्धान्तों को ध्यान में रखा; व्यक्तियों की आवश्यकताएँ एवं उनकी उत्पादकता। नीचे हम इन सिद्धान्तों के उपयोग की संक्षिप्त व्याख्या करेंगे।

भूमि के लगान के सम्बन्ध में यहाँ पर इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि कौटिल्य ने सर्वप्रथम विभिन्न प्रकार की भूमि के सापेक्षिक लाभों का विस्तृत वर्णन किया है। उनके अनुसार यदि कम उपजाऊ अधिक एवं अधिक उपजाऊ थोड़ी-सी भूमि में से एक को चुनना हो तो अधिक उपजाऊ कम भूमि को ही चुनना चाहिये।[2] इस प्रकार भूमि की उत्पादकता पर, न कि विस्तार पर, अधिक बल दिया गया है। इसी प्रकार उनका कहना है कि दूर एवं समीप की भूमि में से समीप ही

---

1. सपादयण धर्म्मा मास वृद्धिः पणशतस्य। पंचपणा व्यावहारिकी। दसपणा कान्तारकाणाम्। विंशतिपणा सामुद्राणाम्। तृतीय अधिकरण, दशवाँ अध्याय, श्लोक 1-4
2. अधिकरण 7, अध्याय 11

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

की भूमि का चुनाव करना चाहिये।[1] इस प्रकार कौटिल्य भूमि की उत्पादकता एवं (बाजार से) समीपता इन दोनों तत्त्वों को भूमि के गुण मानते हैं और इसी के अनुसार लगान का निर्धारण भी करते हैं। यह स्पष्ट है कि चूंकि "अर्थशास्त्र" में किसी ऐसे भूमिपति के अस्तित्व की व्यवस्था नहीं है जो कि भूमि को स्वयं न जोतकर लगान पर दे देता हो, जमींदारों द्वारा लगान लिए जाने का प्रश्न नहीं उठता। चाणक्य के अनुसार राज्य को आधा अनाज कृषक से ले लेना चाहिये। यह नहीं कहा जा सकता कि यह सब लगान ही के रूप में है क्योंकि इसमें से बहुत बड़ा भाग अकाल आदि से सुरक्षा के लिए भी संचित रखा जाता है। इतना स्पष्ट है कि लगान, भूमि की मात्रा पर ही नहीं लिया जाता था। इस सम्बन्ध में कौटलीय नीति आधुनिक प्रणाली से अधिक विवेकपूर्ण थी क्योंकि उन्होंने लगान को उत्पादन के अनुपात ही में लेने की व्यवस्था की।

व्याज के निर्धारण के बारे में हम पहले हो कुछ कह आये हैं और इसके सम्बन्ध में भी यही बात सिद्ध होती है कि विभिन्न व्यवसायों की उत्पादकता के अनुपात ही में व्याज की भिन्न-भिन्न दरों का "अर्थशास्त्र" में विधान है।

मजदूरी के सम्बन्ध में कौटिल्य का विचार है कि "मजदूरी किये गये कार्य का पारिश्रमिक है।"[2] कम काम करने पर अधिक मजदूरी मिलने का प्रश्न केवल तभी उठता है जब कि मालिक स्वयं कार्य को पूरा न होने दे। प्राचीन आचार्यों का यह मत था यदि मजदूर अपनी नौकरी पर उपस्थित हो जावे और किसी कारणवश उससे काम न लिया जावे, तो उसे वेतन मिल जाना चाहिये। इस प्रकार उनके मजदूरी के विचार सामाजिक न्याय के सिद्धान्त पर आधारित प्रतीत होते हैं। पर कौटिल्य ने इस बात को स्वीकार नहीं किया और किये गये कार्य को ही मजदूरी का आधार माना। दूसरी ओर कौटिल्य ने काम पूरा न होने पर तो मजदूरी के काटे जाने की व्यवस्था की, पर यदि अधिक कार्य कर लिया जावे तो अतिरिक्त मजदूरी की व्यवस्था नहीं की।[3] इस प्रकार इनका मजदूरी का सिद्धान्त स्वयं अपने में भी अधूरा ही रहा।

---

1. अधिकरण 7, अध्याय 10
2. कृतस्य वेतनं नाकृतस्यास्ति। तृतीय अधिकरण, अध्याय 14, श्लोक 10
   साक्षिणामभावे यतः कर्म ततो नु युक्ति। तृतीय अधि०, अध्याय 13, श्लोक 4
3. संभाषितादधिक क्रियायां प्रयास मोघ कुर्यात्॥
   उपर्युक्त अध्याय, श्लोक 13

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कौटिल्य ने मजदूरों एवं दासों के लिए जो व्यवस्था बनाई वह समानता के सिद्धान्त के अनुसार औचित्यपूर्ण नहीं प्रतीत होती। यदि नौकर वेतन लेकर कार्य **न कर सके** तो उस पर बारह पण दण्ड होगा।[1] पर यदि भर्ता काम करवा कर वेतन न दे तो उस पर **केवल 6 पण के दण्ड** की व्यवस्था है।[2] यदि नौकर काम पर से भाग जाय तो उसे जेल की सजा होगी, पर मालिक को नौकर को निकाल देने पर दण्ड तभी होगा जब कि इस बारे में पहले ही कोई वैध संविदा हुआ हो और तब भी यह दण्ड केवल छः पण होगा। इस प्रकार कौटिल्य ने मजदूरी एवं कार्य के नियमों के सम्बन्ध में मजदूर एवं मालिक को बराबरी के स्तर पर नहीं रखा। इस का कारण शायद यह रहा हो कि मजदूर वर्ग में केवल निम्न वर्ण के ही लोग थे और मालिकों में उच्च वर्ण के लोग थे। उच्च वर्ण के लोगों को कई प्रकार के दण्डों से मुक्ति मिली थी। इस प्रकार सामाजिक असमानताओं एवं भेदभाव की धारणा, आर्थिक क्षेत्र में भी ज्यों की त्यों उतर गयी और प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधाराओं में एक कलंक बन कर रह गयी। जिन मजदूर संघों की कौटिल्य ने व्यवस्था की है वे भी एक प्रकार से राज्य के ही एक अंग थे और मजदूरी के सम्बन्ध में उनका कोई हाथ हो यह बात प्रतीत नहीं होती। असल में कौटिल्य इस मत के थे कि मनुष्यों की आदत घोड़ों ऐसी होती है और वे काम पर लग जाने पर उछल-कूद मचाने लगते हैं। इसलिए उन पर नियंत्रण रखना चाहिए।[3]

8—राजकीय आय-व्यय

यह स्पष्ट है कि कौटिलीय अर्थव्यवस्था राज्यप्रधान थी। राजकीय क्षेत्र तो काफी बड़ा था ही शेष आर्थिक क्षेत्र में भी राज्य का हस्तक्षेप एवं नियंत्रण रहता था। आर्थिक व्यवस्था का शायद ही कोई अंग ऐसा हो जो राज्य के हस्तक्षेप से अछूता रहा हो। इसी के अनुसार राज्य के व्ययों की मदें भी अनेक थीं। सेना का व्यय प्रमुख था। राज्य कर्मचारियों की संख्या आज के नौकरशाही युग

---

1. गृहीत्वा वेतनं कर्माकुर्वतो भृतकस्य द्वादशपणो दण्डः,
   तृतीय अधिकरण, अध्याय 14, श्लोक 1
2. वेतनादाने दशबन्धः दण्डः षट्पणो वा।
   अधिकरण 3, अध्याय 13, श्लोक 45
3. अश्वधर्माणं हि मनुष्या नियुक्ताः कर्मसु विकुर्वंते।
   अधिकरण 2, अध्याय 3, श्लोक 4

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

से किसी प्रकार कम न थीं, उनके वेतन में राजकीय आय का एक बहुत बड़ा भाग खर्च होता था। सेना शायद सबसे अधिक वेतनवाला व्यवसाय था। कौटिल्य ने एक साधारण श्रमिक की मजदूरी 60 पण निर्धारित की है, पर एक पाद-सैनिक का वेतन 500 पण था। एक जनरल का वेतन लगभग 50,000 पण निर्धारित था। राज्य की आय के व्यय के सम्बन्ध में राज्य की सत्ता के संरक्षण के अतिरिक्त किसी अन्य सिद्धान्त का पालन नहीं किया गया है। निस्सन्देह कौटिल्य ने इस बात की ओर अवश्य संकेत किया है कि यदि राज्य उत्पादक एवं लाभकारी कार्यों में कम व्यय करेगा तो बाद में पछताना पड़ेगा। पर किसी कार्य का लाभ या उत्पादकता शायद इसी बात से निर्धारित होती है कि वह कार्य राज्य के लिए कितना महत्त्वपूर्ण है ?

राज्य की आय का सबसे बड़ा स्रोत कर एवं जुर्माना है। करों में भी मुख्यतया कृषि एवं भूमि कर ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जैसा कि प्रो० कौशाम्बी ने इंगित किया है जुर्मानों की संख्या इतनी अधिक है कि श्री शामशास्त्री द्वारा किये गये "अर्थशास्त्र" के अंग्रेजी अनुवाद की अनुक्रमणिका में 9 स्तम्भ से भी अधिक में इनकी सूची अंकित है। इसके अलावा राज्य को राजकीय संस्थानों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के विक्रय से भी पर्याप्त आय प्राप्त हो जाती थी।

कौटिल्य द्वारा छः प्रकार के कर बताये गए हैं—सीता या कृषि भाग, बलि (उपहार आदि), कर (फल वृक्ष आदि का कर), वणिक नदी पार का कर, रज्जू (भूमि के अन्य कर), चोर रज्जू (चोरों से प्राप्त धन)[1] इसके अलावा मूल, भाग, व्याजी, परिधे, बन्लृप्त, रूपिक, अत्यय ये भी राजा की आमदनी के स्रोत हैं।[2] तेल, नमक एवं खनिज में राज्य का एकाधिकार था और ये तीनों आय के बहुत बड़े-बड़े स्रोत हैं।[3]

जहाँ तक करारोपण में अपनाये गए सिद्धान्तों का प्रश्न है, हम आधुनिक अर्थशास्त्रियों की ही भाँति विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख पाते हैं। वास्तव में ये करारोपण के सिद्धान्त (Principles) न होकर करों के नियम (Canons) थे।

1. सीता भागो बलिः करो वणिक् नदीपालस्तरो नावः पट्टनं विवीतं वर्तनी रज्जू चोररज्जूश्च राष्ट्रम्। द्वितीय अधि०, अध्याय 6, श्लोक 3
2. वही, अध्याय 6, श्लोक 10
3. वही, अध्याय 12।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कौटिल्य यह राय देते हैं कि कृषि में लगे करों को तभी लेना चाहिए जब फसल पकी हो।[1] इस प्रकार हमें इसमें सुविधा का नियम (Canon of Convenience) मिलता है। निश्चितता के नियम (Canon of Certainty) पालन के लिये हर कर या देय की दर राज्य द्वारा निर्धारित हैं और हर अधिकारी के ऊपर कड़ी निगरानी रखी जाती है। कौटिल्य का कथन है, "जो थोड़ी आमदनी और व्यय अधिक दिखाता है, वह राज्य के धन का अपहरण करता है या प्रजा को पीड़ित करता है। जो आय-व्यय बराबर दिखाता है, वह राजकीय धन का गबन तो नहीं करता पर रिश्वत लेता है, जो राजा के नियत कर से कम देता है तो वह राज्य के धन का अपहरण करता है।[1] ये कथन इस बात पर बल देते हैं कि प्रजा से जितना धन लिया जाय वह सभी राजकोष में जमा हो और प्रजा से उतना ही कर लिया जाय जितना कि राज्य द्वारा निर्धारित हो। कौटिल्य अपव्ययिता के सदा विरोध में रहे हैं। यह उनके उपर्युक्त एवं अन्य कथनों से स्पष्ट प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने करों में समानता के सिद्धान्त का समावेश करने की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। यह तथ्य उनके सामान्य विचारों के लगभग अनुकूल ही पड़ता है। पर हाँ, इस बात का ध्यान उन्होंने अवश्य रखा कि कर उन्हीं लोगों से लिया जाय जो कि उसको देने में समर्थ हैं।

कौटिल्य के अधिकांश कर उत्पादकता के सिद्धान्त पर आधारित थे, विशेषकर भूमि कर, जो कि सबसे महत्त्वपूर्ण कर था, भूमि की उपज के अनुपात में लिया जाता था। आयात-निर्यात कर भी मूल्यानुसार लिए जाते थे। इसी प्रकार क्रय-विक्रय कर भी वस्तुओं के मूल्य के ही अनुसार थे। तात्पर्य यह है कि कर-व्यवस्था में पर्याप्त लोच (Elasticity) थी और यह कर-देय क्षमता (ability to pay) के सिद्धान्त पर आधारित थी।

उपसंहार

कौटिल्य के विचारों का उपरोक्त विवरण देने के पश्चात् हम उनकी तुलना कुछ पाश्चात्य एवं प्राच्य विचारकों से करने का प्रयत्न करते हैं।

सर्वप्रथम कौटिल्य में कुछ ऐसे तत्त्वों की प्रधानता का पुट मिलता है जो हमें इस बात के लिए प्रेरित करता है कि हम उनका स्थान यूरोपीय वणिग्वादियों

---

1. पक्वं पक्वमिवारावात् फलं राज्यादवाप्नुयात्।
   आत्मच्छेद भयादानं वर्जयेत् कोपकारकम्। अधिकरण 5, अध्याय 2,82
2. अधिकरण 2, अध्याय 9, श्लोक 12-15

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के समकक्ष भारतीय वणिग्वाद के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार करें। मुख्यतः कौटिल्य ने राज्य की प्रभुता, संरक्षण एवं सर्वव्यापी हस्तक्षेप की जो नीति अपनायी है वह लगभग यूरोपीय वणिग्वादियों के ही अनुरूप पड़ती है। प्रो० हेक्सर[1] ने इस व्यवस्था के संस्थापकों के विचारों को पाँच भागों में बाँट कर वर्णित किया है—(1) एकीकरण, (2) शक्ति-व्यवस्था, (3) संरक्षण, (4) द्रव्य-व्यवस्था एवं (5) सामाजिक व्यवस्था। इन्हीं पाँच भागों के अन्तर्गत हम कौटिल्य के विचारों का सर्वेक्षण करते हैं।

(1) **एकीकरण नीति**—वणिग्वादी विचारकों की भाँति ही कौटिल्य-नीति इस बात पर अत्यधिक जोर देती है कि देश में एक ही संप्रभु साम्राज्य हो, उसकी अर्थ-व्यवस्था सुसंगठित एवं केन्द्रीकृत हो। कौटिल्य बहुत अधिक सीमा तक इस उद्देश्य में भी सफल रहे। उन्होंने विभिन्न छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर सर्वप्रथम विघटित भारत में एकछत्र मौर्य साम्राज्य की स्थापना की। इसके सुचारु रूप से प्रशासन सम्पन्न करने हेतु उन्होंने पूरे राज्य के लिए वणिग्वादियों की ही तरह एक ही कर व्यवस्था, एक द्रव्य-व्यवस्था एवं माप व तौल व्यवस्था का निर्धारण किया। यह सब नीतियाँ विभिन्न व्यवस्थाओं के अस्तित्व को मिटाकर एकछत्र साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने में पूर्ण रूप से सहायक होंगी यह कौटिल्य का विचार था। राज्यान्तर्गत चुंगीकर एवं सीमाकरों को कौटिल्य केवल आवश्यक बुराइयों के रूप में ही स्वीकार करते हैं। इस प्रकार वणिग्वादियों की ही भाँति "अर्थशास्त्र" की नीति देश के विघटन के विरुद्ध एवं एकीकरण के पक्ष में निर्धारित की गयी है।

(2) **शक्ति व्यवस्था**—कौटिल्य ने सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का उद्देश्य राज्य की शक्ति में वृद्धि करना समझा। उनका विश्वास था कि आर्थिक रूप से समृद्धिशाली राज्य ही राजनीतिक रूप से दृढ़ एवं सैनिक दृष्टिकोण से प्रभुतापूर्ण हो सकता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कौटिल्य ने यह विधान बनाया कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों का राज्य के हित में अपहरण भी किया जा सकता है। सैन्य व्यय, सामान्य व्यय से अधिक होगा। विशिष्ट प्रकार के महत्त्वपूर्ण उद्योगों जैसे खानों, तेल एवं व्यापार पर राज्य का एकाधिकार रहेगा। चूंकि हाथी सेना के मुख्य अंग हैं इसलिए हाथी की रक्षा एवं शक्ति के हित में कौटिल्य ने हाथी के मारने वाले के लिए मृत्युदण्ड का विधान बनाया है। इस प्रकार कौटिल्य की

---

1. Heckser, E. F. Mercantilism, Vols I & II.

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आर्थिक नीतियों में वणिग्वादी अर्थशास्त्रियों की ही भाँति राज्य की शक्ति के संरक्षण एवं वृद्धि का उद्देश्य निहित है।

(3) **संरक्षण**—कौटिल्य की संरक्षण की नीति वणिग्वादी अर्थशास्त्रियों से भिन्न अवश्य है, लेकिन लाभ की प्रधानता आदि तत्त्व यहाँ भी मिलते ही हैं। कौटिल्य ने व्यापार के सम्बन्ध में कहा है कि चीजें जहाँ पैदा हों वहाँ न बेची जावें, लाभ प्राप्ति के लिए सुदूर स्थानों में उन्हें ले जाया जावे, जहाँ लाभ न मिलता हो वहाँ उन्हें कदापि न बेचा जावे। इसके अलावा राष्ट्रीय हित में उन्होंने कई वस्तुओं के उत्पादन को संरक्षण प्रदान करने एवं निर्यात करने की संस्तुति की है, उदाहरणार्थ, खनिज पदार्थ, सैन्य एवं युद्ध सामग्री एवं खाद्यान्न।

(4) **द्रव्य-व्यवस्था**—कौटिल्य की अर्थ-व्यवस्था को वणिग्वादी अर्थव्यवस्था की भाँति एक द्रव्य-व्यवस्था के रूप में नहीं माना जा सकता। कौटिल्य के लिए द्रव्य एक विनिमय का साधन मात्र है, स्वयं उपयोगी या मूल्यवान नहीं। वास्तव में कौटिल्य ने अधिक बल वस्तुओं के भौतिक रूप पर दिया है, उनके द्राव्यिक मूल्य पर नहीं।

(5) **सामाजिक व्यवस्था**—कौटिल्य की व्यवस्था एक स्वस्थ, सुसंगठित सामाजिक व्यवस्था है पर इसका रूप वणिग्वादी अर्थ-व्यवस्था में भिन्न है। क्योंकि जहाँ वणिग्वादी अर्थ-व्यवस्था में स्तरीकरण (Stratification) विदेशी व्यापार से लाभ से सामीप्य या दूरस्थता पर निर्भर है, "अर्थशास्त्र" की सामाजिक व्यवस्था का स्तरीकरण वर्ण-व्यवस्था में विद्यमान है। विभिन्न वर्गों में भेद कुछ वर्गों को दूसरे से अधिक उत्पादक एवं महत्त्वपूर्ण मानने की प्रवृत्ति इन दोनों व्यवस्थाओं में पायी जाती है। इसके अतिरिक्त दोनों व्यवस्थाओं में नैतिकता एवं धार्मिकता के सम्बन्ध में लगभग समान दृष्टिकोण मिलता है। ये दोनों व्यवस्थाएँ न तो नैतिक या धार्मिक आधार पर टिकी हैं और न अनैतिक एवं धर्मविरोधी आधार पर ही। इन दोनों दृष्टिकोणों के प्रति यूरोपीय "वणिग्वाद" और "अर्थशास्त्र" दोनों तटस्थ हैं।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुख्य रूप से "अर्थशास्त्र" के उद्देश्य वणिग्वादी उद्देश्य होते हुए भी "अर्थशास्त्र" के पूरे विस्तार को भारतीय वणिग्वादी के रूप में लेने में कुछ शंका होती है क्योंकि इन दोनों व्यवस्थाओं के अन्तर भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वणिग्वादियों के विपरीत एवं ब्रिटिश संस्थापकवादियों स्मिथ

1. प्रो० हेक्सर ने ऐसी स्थिति को 'amoral' की संज्ञा दी है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

एवं रिकार्डो के अनुरूप "अर्थशास्त्र" सदैव उत्पादन-पक्ष पर अधिक और "विनिमय" पर कम जोर देता है। समाज में कार्यों का विभाजन, आय का वितरण एवं कृषि की प्रधानता, "अर्थशास्त्र" को वणिग्वाद से दूर एवं फ्रेन्च अधिभूतवाद (फिजियोक्रेसी) के अधिक समीप ला देती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि "अर्थशास्त्र" में कई महत्त्वपूर्ण उद्देश्य एवं नीतियाँ वणिग्वादियों के अनुरूप ही हैं पर उसके हर अंग को समकक्ष नहीं रखा जा सकता।

दूसरी ओर कुछ लोगों का यह भी कहना है कि कौटिल्य ने राज्य को अत्यधिक प्रधानता देकर राज्य-समाजवाद की अर्थव्यवस्था का चित्रण किया है। वास्तव में प्राचीन भारत में कौटिल्य आदि विचारकों ने राज्य द्वारा आर्थिक क्षेत्र में कार्य एवं हस्तक्षेप की संस्तुति तो अवश्य की थी, परन्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं आर्थिक स्वतंत्रता के तत्व सदैव मूल में रहे और समाजवाद की धारणा का कोई अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता। राज्य के हस्तक्षेप, राजकीय आर्थिक क्षेत्र एवं उत्पादन के आयोजन आदि के साथ निजी सम्पत्ति के अधिकार एवं आर्थिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के योग से "अर्थशास्त्र" में जिस आर्थिक व्यवस्था का चित्रण मिलता है, वह वर्तमान भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था के अधिक समीप है, पूंजीवाद या समाजवाद की धारणा के नहीं। कौटिल्य में आज की व्यवस्था की अपेक्षा अधिक विस्तारसहित राजकीय हस्तक्षेपों का विवरण अवश्य दिया गया है।

इस स्थान पर संक्षेप में कौटिल्य की उनके पूर्ववर्ती विचारक कन्फ्यूशियस (552 ई० पू०-479 ई० पू०) से तुलना करना संदर्भरहित न होगा। कौटिल्य की ही भाँति कन्फ्यूशियस ने चाऊ सम्राट के समर्थन में विभिन्न राज्यों के एकीकरण का बीड़ा उठाया था[1]। छठी सदी ईसा पूर्व में चीन की राजनीतिक स्थिति लगभग उसी प्रकार थी जैसी कि कौटिल्य के समय में भारत की थी। लौह-युग का प्रादुर्भाव हो चुका था, सामन्तवाद पूरी तरह से विकसित होकर पतनोन्मुख दिशा में था। छोटे-छोटे राज्यों में पारस्परिक कलहों का बाहुल्य था[2]। ऐसी

1. Needham, J. Science and Civilization in China, Vol. I, P. 95.
2. Needham, J. Science and Civilization in China, Vol. II, P. 3

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

स्थिति में कन्फ्यूशियस ने चाऊ सम्राट् की सहायता से लगभग वही किया जो कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त की सहायता से भारत में किया।

जिस प्रकार कौटिल्य के समय तक भारत में वैदिक धार्मिक विचारों का महत्त्वपूर्ण रूप से छाया हुआ था उसी प्रकार छठी सदी ईसा पूर्व में चीन में "दर्शन के सौ समुदायों" का बोल-बाला था। कन्फ्यूशियस ने इनके विरुद्ध अपनी विचारधारा की स्थापना की। कन्फ्यूशियस की विचारधारा में हमें कौटिल्य की ही भाँति "इह-लौकिक सामाजिकता" का प्राधान्य मिलता है[1], पर दूसरी ओर उन्होंने चाणक्य के विपरीत कृषि-ज्ञान की अपेक्षा अच्छी परम्पराओं, औचित्य एवं सत्य के अध्ययन को अधिक महत्त्व दिया। इस प्रकार वह आदर्शवाद से भिन्न होकर भौतिकवाद की धरती पर कदम भी न रख सके।

इस प्रकार विभिन्न विचारकों से कई क्षेत्रों में समानता होते हुए भी कौटिल्य को किसी एक सम्प्रदाय के समकक्ष नहीं रखा जा सकता। उनका स्वयं अपना स्वतंत्र स्थान है। कौटिल्य भारतीय आर्थिक विचारों के आकाश में डेढ़ हजार वर्ष की दूरी के बीच चमकता हुआ एकाकी सितारा है, उसकी अपनी विचारधारा और अपना "अर्थशास्त्र" है। एक ही बात सत्य है कि वह "भारतीय" है। अन्त में "अर्थशास्त्र" की कुछ प्रमुख आर्थिक विचारधाराओं का यहाँ पर संक्षिप्त में उल्लेख किया जा सकता है। कौटिल्य के विचारों में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान हम उनकी इस मान्यता को देंगे कि अर्थव्यवस्था ही राष्ट्र का मेरुदण्ड है। राजनीतिक व सामरिक दृष्टिकोण से शक्तिशाली होना किसी भी राष्ट्र के लिए आवश्यक है। पर कौटिल्य के अनुसार इसके लिये आर्थिक रूप से सम्पन्न होना आवश्यक है। शास्त्रीय अध्ययन के दृष्टिकोण से कौटिल्य की मुख्य देन कोरी नैतिकता को व्यावहारिक अर्थव्यवस्था के सम्पादन से अलग करने में है। इस प्रकार से उन्होंने आर्थिक-व्यवहार के विश्लेषण तथा उससे सम्बन्धित नीति को आदर्शवाद से हटाकर भौतिकवाद की आधारशिला पर रखा। "अर्थशास्त्र" में आर्थिक प्रक्रियाओं में उत्पादन को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है, और उत्पादन वृद्धि के लिये कौटिल्य आवश्यकतानुसार मान्य परम्पराओं और विश्वासों का उल्लंघन करने से भी नहीं चूकते। समृद्धि का मुख्य स्रोत कौटिल्य के अनुसार भूमि नहीं परन्तु मानवीय श्रम' की मात्रा एवं स्तर तथा अर्थ-संचालन की पद्धति है। अर्थ-व्यवस्था

1. Needham, J. Science and Civilization in China Vol. II. P, 5.

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के इस पहलू को कौटिल्य ने सर्वप्रथम आगे रखा। उत्पादन के बाद समृद्धि का दूसरा स्रोत व्यापार-विशेषकर विदेश व्यापार-को माना गया है और इस क्षेत्र में कौटिल्य ने यह स्पष्ट बताया है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नैतिक सिद्धान्तों से सम्पादित नहीं हो सकता। परन्तु कौटिल्य यह जानते थे कि व्यक्तिगत लाभ से प्रेरित उत्पादक इस विचारधारा का अनुचित लाभ उठा सकते हैं। इसलिए उन्होंने एक नियंत्रित अर्थव्यवस्था की परिकल्पना की है, जिसमें राष्ट्र के महत्त्व-पूर्ण क्षेत्रों का संचालन राज्य द्वारा हो और अन्य क्षेत्रों में भी समुचित राजकीय निरीक्षण एवं नियन्त्रण की व्यवस्था हो।

———

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय 3

वेदोत्तरकालीन विचारधारा

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वेदोत्तरकालीन विचारधारा

प्रस्तुत अध्याय में जिस युग की विचारधारा का वर्णन किया जा रहा है, भारतीय इतिहास में उसे राजनीतिक अस्थिरता का युग कहा जा सकता है। लगभग 184 ई० पू० में मौर्य साम्राज्य का पतन हुआ और शुंग वंश ने देश पर अधिकार जमाया। यह वंश अल्प अवधि ही में समाप्त हो चला और इसके पश्चात् कुषाण वंश ने लगभग 200 वर्षों तक राज्य किया। तदुपरान्त गुप्त वंश ने राज्यसत्ता संभाली और लगभग 300 वर्षों तक अनवरत राज्य किया। गुप्त वंश के बाद हर्षवर्धन ही एक मात्र उल्लेखनीय सम्राट थे, जिनका साम्राज्य विस्तृत था। दसवीं शताब्दी के लगभग एकछत्र साम्राज्य की भावना कल्पना मात्र ही रह गई। मौर्योत्तरकालीन भारत में जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी, कुटीर उद्योगों का विकास अवश्य हुआ पर दीर्घ आकार के उद्योगों का प्रायः अभाव ही रहा। भूमि की अपेक्षाकृत दुर्लभता का आभास हमें व्यक्तिगत अधिकार की प्रथा के अभ्युदय से प्राप्त होता है। उत्पादन-विधि में कोई उन्नति हुई नहीं प्रतीत होती। राज्य भी शनैः शनैः अर्थव्यवस्था के प्रति तटस्थ होता गया क्योंकि राजनीतिक अस्थिरता के कारण इस युग में शासकों को अपने सिंहासन की सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों में ही अधिक तल्लीन रहना पड़ता था। आर्थिक रूप से अवनत होते हुए भी गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहे जाने की प्रथा का एकमात्र आधार प्रो० कौशाम्बी के मतानुसार यह है कि इस काल के सोने के सिक्के काफी बड़ी संख्या में पाये गये हैं।[1] उनका मत है कि राज्य द्वारा प्रोत्साहित सामन्तवादी प्रथा के परिणाम-स्वरूप इस युग में जो अर्थ व्यवस्था उभरी थी, उसमें दो भिन्न प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम, थोड़े से बन्दर-

1. Koshambi, D.D., An Introduction to the Study of Indian History, Bombay, 1956, Chapter 9.

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

गाहों एवं राजधानियों में धन का केन्द्रित होना और बड़े-बड़े पुरातन नगरों का पतन। चीनी यात्री हुवेनसांग का भारतीय समृद्धि का वर्णन इन्हीं राजधानियों के पर्यटन पर आधारित है और इस पर आधारित ऐतिहासिक वर्णन जो हमें प्राप्त होता है, "वह भारत की तत्कालीन स्थिति का सही चित्रण नहीं कर पाता।

सामाजिक क्षेत्र में भी जो सूक्ष्म प्रायः तथ्य प्राप्त होते हैं, उनके आधार पर प्रगति के चिह्न कम ही दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ दुर्भाग्यपूर्ण संस्कार, जिनका पहले ब्राह्मणवाद में कोई स्थान नहीं था, स्थापित हो गये। हिन्दू समाज का अभिशाप 'सती' प्रथा इसी युग की देन है जो कि आंशिक रूप से स्त्रियों की दयनीय स्थिति एवं आर्थिक अरक्षा की द्योतक है। हर्ष की माता यशोमति पति की सम्भावित मृत्यु के आधार पर ही सती हो गयी। कौटिल्य ने मानव मांस के क्रय-विक्रय पर मृत्युदण्ड का विधान बनाया था पर हर्ष के पिता को किसी भयानक बीमारी से बचाने के असफल प्रयास में दरबारी लोगों द्वारा अपना मांस काटने व बेचने जैसे अमानुषिक उदाहरण हमें वर्द्धन-काल में प्राप्त होते हैं।[1] दासों की असीम विवशता को परम स्वामिभक्ति के आदर्श के रूप में प्रस्तुत करना भारतीय आत्मश्लाघा की परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण अंग रहा है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस युग में भारत की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक अवस्था पतनोन्मुख थी। ये परिस्थितियाँ किस सीमा तक तत्कालीन विचारधाराओं में प्रति-ध्वनित हुईं, इन दोनों के विस्तृत अध्ययन से ही ज्ञात हो सकती हैं। यहाँ पर हम संक्षेप में ही तत्कालीन सामान्य आर्थिक एवं सामाजिक संस्थाओं का उल्लेख कर, इस काल की मुख्य आर्थिक विचारधारा का ही विवरण प्रस्तुत करने में समर्थ हैं।

अर्थ-व्यवस्था

सदैव की भाँति, इस काल की भारतीय अर्थ-व्यवस्था ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था थी और कृषि मुख्य व्यवसाय था। यद्यपि भारतीय अर्थ-व्यवस्था का यह प्रारूप प्रागैतिहासिक काल से चला आ रहा है, पर जो नगर ई० पू० काल में स्थापित होकर पहली सदी तक सम्पन्न अवस्था में पहुँच चुके थे, उनका तीसरी सदी के लगभग अधोपतन प्रारम्भ हो चुका था और अर्थ-व्यवस्था की ग्राम प्रधानता की प्रवृत्ति तीव्रतर हो गई। कृषि एवं निवास के लिए भूमि की माँग में निरन्तर

---

1. हर्ष चरित, 153, 199, 244

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वृद्धि के फलस्वरूप गुप्तकाल में भूमि को बंजर एवं धान्यहीन छोड़ने के विरुद्ध विचार उभड़ने लगे[1]। ऋषियों एवं तपस्वियों को भी अपनी जीविका के लिए कृषि कार्य करना होता था। रघुवंश (कालिदास) में राजा रघु कौत्स ऋषि से पूछते हैं, कि जिस नीवार धान्य से आप लोग अतिथियों का सत्कार करते हैं और जिसके आधार पर आप लोग जीते हैं, उन्हें समीपवर्ती गाँवों के पशु तो आकार चर नहीं जाते[2]। भूमि की महत्ता स्वाभाविक थी। सर्व प्रथम हर्ष काल में हमें भूमि के स्वत्व के सम्बन्ध में वाद-विवाद प्राप्त होते हैं। मनु का मौलिक कथन कि भूमि उसी प्रकार विजेता है जिस प्रकार हिरन प्रथम वर्धक का है[3], इस काल में प्रभावहीन हो गया। यह कथन अस्थायी अधिकार मात्र के लिए ही माना जाने लगा[4] और भूमि पर स्थायी अधिकार के लिए प्रमाणों-उदाहरणार्थ 'आगमेन विशुद्धेधन' (याज्ञवल्क्य) 'सागम' (वृहस्पति) की व्यवस्था होने लगी। भूमि पर तीस साल तक के निर्विरोध अधिकार के पश्चात नारद एवं वृहस्पति ने अधिकारी को स्वत्व प्रदान करने की संस्तुति की है।

भूमि के व्यक्तिगत अधिकार के साथ जिस नयी आर्थिक, राजनीतिक एवं प्रशासनिक पद्धति का उद्भव हुआ वह थी राज्य सम्पादित सामन्तशाही[5]। सामन्तवाद के स्रोत थे, पराजित स्थानीय शासक एवं दान भाजन पुरोहित। सामान्तशाही के अन्तर्गत राजनीतिक प्रशासन का आधार भूमि तथा आर्थिक आधार भूमिपतियों और कृषकों के दो विभिन्न वर्गों के अस्तित्व में पाया जाता है। मौर्योत्तर कालीन भारत में इस प्रथा को होना सर्वमान्य है। राजा अपने अधीन प्रमुखों व सामान्तों से कर लेता था। पर ये सामान्त या प्रमुख तब तक

---

1. Maity, S.K. Economic Life of the Northern India in the Gupta period, Calcutta, 1957, pp. 12. 1971-72
2. "नीवार पाकादि कंडगरीयै रामृश्यते जान पदैन कच्चियत्।
   कालोप पन्नातितिर्थि कल्प मांग बन्यं शरीरस्थिति साधनर्वः ॥"
3. मनुस्मृति 5-9।
4. Vinogradoff : Jurisprudence, London, Vol. I, 1941, pp. 32 4-25.
5. प्रो० कोशाम्बी इसे Feudalim from Above कहते हैं।
   भारतीय सामान्तवाद की विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए
   Indian Feudalism : C 300-1200, Calcutta, 1965.

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अपनी सीमा में स्वतन्त्र थे जब तक कि वे राजा को नियमित रूप से कर देते रहें। सामान्तशाही का पूर्ण विकास गुप्त काल में दृष्टिगोचर होता है जब कि यह भावना जोर पकड़ गयी थी कि भूमि उन लोगों के आनन्द उपभोग के लिए है जो इसके स्वामी तथा शासक हैं। शूद्र वर्ग के लिए वेदोत्तरकालीन ग्रन्थों में यही कहा गया है कि उनका कर्तव्य तीन उच्च वर्णों की सेवा करना मात्र है[1]। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में, सामन्त तथा स्थानीय शासक, स्थानीय प्रमुख या पुरोहित ये भूमि का प्रशासन प्रत्यक्ष ढंग से करते थे। इनके और कृषक के बीच भूमि स्वामी वर्ग नहीं था। धीरे-धीरे यह स्थिति बदल गई और बाद के काल में सामान्तशाही का प्रसार राज्य की ओर से न होकर, ग्राम की ओर से हुआ[2]। ग्राम के कुछ भूपति-जमींदार राज्य और कृषकों के बीच मध्यस्थ बन कर आ गये। प्रो० शर्मा का कथन है कि कभी-कभी गाँवों से राजा एवं कृपक के बीच चार-चार मध्यस्थों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं[3]। चाहे किसी भी रुप में हो, प्रशासन की शक्ति का आधार भूमि सदैव रही और भारत में सामान्तशाही प्रथा काफी समय तक रही इसका उल्लेख हमें कई इतिहासकारों[4] के कथनों में स्पष्ट मिलता है। प्रो० वैशम का कहना है कि यदि सामान्तशाही एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था है जिसमें राजनीतिक शक्ति मुख्यतया उन लोगों के हाथ में रहती है जो भूमि पर अधिकार रखते हैं, तो भारत में यह व्यवस्था अवश्य रही और यह भी सत्य है कि पहले यह प्रथा राज्य की ओर से विकेन्द्रीकरण के रूप में आई जब कि हारे हुए राजा और प्रमुख अपने क्षेत्र में सामन्त बन गये और बाद में स्थिति बदल गई और सामान्तशाही भूमि के स्वामित्व से संलग्न हो गयी।

औद्योगिक क्षेत्र में यह काल उन्नत नहीं कहा जा सकता पर उद्योग धन्धों का पूर्णरूप से लोप भी नहीं हुआ था। ग्रामीण उद्योग तो सम्भवतः इस काल

---

1. Ibid p. 16
2. प्रो० कोशाम्बी इसे Feudalism from Below कहते हैं।
3. Sharma, op. cit.
4. Basham, A.L., The wonder that was India, London 1954, p. 93; Pran Nath, A Study in Economic Conditions p. 188 ff; Dutta : Studies in Indian Social Polity Vol. II p. 138 ff.

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

में पर्याप्त उन्नति कर चुके थे। अधिकतर उत्पादन लघु उद्योगों के ही द्वारा होता था और लगता है, कौटिल्य के समय में जो कुछ बड़े पैमाने के उद्योगों का आभास मिलता है, उनका स्थान अब क्रमशः कुटीर उद्योगों ने ले लिया था। उद्योगों में सबसे प्रमुख सम्भवतः खनिजों का उत्पादन था। मुख्य खनिजों में में हिरण्य (सोना), रजत (चाँदी), अयस (ताम्र), लौह, शीश एवं त्रपु थे। स्वर्ण एवं रजत का उपयोग साज सज्जा एवं आभूषणों के लिए होता था। यह सत्य है कि इस काल में विनियोग (Investment) के बहुत अधिक सुरक्षित तथा उत्पादक अवसर न थे। इसके अलावा स्त्री जाति के लिए जो कुछ जनसंख्या का लगभग आधा भाग था, पारिवारिक बचत का एक भाग आभूषणों के रूप में रखना वांछनीय था। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि दीर्घकाल तक स्त्रियों को परिवार का अचल सम्पत्ति में अधिकार से वंचित ही रखा गया था। नारद ने कहा है कि स्त्रियों को दान देने अथवा सम्पत्ति बेचने का कोई अधिकार नहीं है। लेकिन उनको अपने आभूषणों पर पूरा अधिकार था और आभूषणों की मात्रा पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। यही वास्तव में 'स्त्रीधन' कहा जाता था। इसलिए जितना ही अधिक स्त्री आभूषणों के रूप में विनियोग करती, उतनी ही उसकी आर्थिक स्थिति सुरक्षित थी। अल्तेकर ने ठीक ही कहा है कि प्राचीन काल में आभूषण वास्तव में वही स्थान रखते थे जो आज बीमा पालिसी का है। आभूषणों के रूप में बचाये गये प्रचुर मात्रा के धन ने सहस्रों हिन्दू स्त्रियों को कुसमय के चंगुल से बचाया है[1]। इसके अलावा राजवंश एवं राजभवन के पुरुष भी आभूषणों को धारण करते थे, उनके ग्रह-पात्रों का भी बहुमूल्य धातुओं के बने होने का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ कल्हण ने राजा क्षेमेन्द्र को सोने और चाँदी के थालों में भोजन करते वर्णित किया है।[2]

चूंकि सैनिक एवं सामरिक क्रियाओं का बाहुल्य था इसलिए इस काल के उद्योगों में सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले उद्योगों को अर्थ-व्यवस्था में प्रमुख स्थान था[3]। इन उद्योगों में मुख्य स्थान लौह का था। शीशे का प्रचलन इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि दर्पण का इस काल की शृंगार सामग्री में मुख्य स्थान था[4]।

1. Altekar, A. L., The position of Women in Hindu Civilization, Banares 1938, p. 365.
2. राजतरंगिणी 7-265.
3. नियोगी op. cit p. 241.
4. Maity, op. cit. p. 105.

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वस्त्र उद्योगों में ऊन एवं रेशम का प्रमुख स्थान था। जहाँ एक ओर ऐसे वस्त्रों का भी उल्लेख मिलता है जिनको श्वास की वायु से सरलता से उड़ाया जा सकता है[1]। दूसरी ओर तम्बू तथा पर्दों के लिए मोटे कपड़े का भी विवरण मिलता है।

उद्योगों का संगठन एक निर्धारित विधान के अनुसार होता था। इस प्रकार के आर्थिक संगठन श्रेणी के नाम से प्रचलित थे। उत्तर गुप्त काल में संगठनों का नाम 'गोष्ठी' भी मिलता है। वास्तव में पहले जो जाति के आधार पर संगठन बनते थे, वे श्रेणी कहलाते थे। पर उत्तर गुप्त काल में संगठन व्यवसायों के अनुसार बनने लगे और 'गोष्ठी' कहलाने लगे। इन संगठनों का प्रधान 'श्रेष्ठी' होता था जो पूरे संगठन के कार्य को निदेशित करता था। महतक, महर, महागनस्थ, प्रमुख एवं ज्योष्ठिन् इसके विभिन्न पदाधिकारी हुआ करते थे। इन श्रेष्ठियों और महाश्रेष्ठियों का राजा एवं दरबार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था और उन्हें दरबार में सम्मान भी प्राप्त रहता था।

व्यापार उद्योग की एक स्वाभाविक कड़ी है अतः इस युग में व्यापारिक क्षेत्र में भारत काफी अग्रसर रहा। मौर्य काल से ही देशी एवं विदेशी व्यापार भारतीय अर्थ-व्यवस्था का एक प्रमुख अंग रहा। दमयन्ती ने नल की खोज करते समय व्यापारियों के एक विशाल समूह को राजपथ से गुजरते देखा जिसमें इन व्यापारियों तथा उनकी वस्तुओं का सजीव चित्रण मिलता है[2]। मनु ने देश के

---

1. कालिदास, रघुवंश XVI, p. 43.
2. गत्वा प्रकृष्ट मध्यान दमयन्ती शुचिस्मिता।
   ददर्शाथ महासार्थं हस्त्यस्वरथ संकुलम्॥
   साब्रवीद वणिजः सर्वान् सार्थवाह च तं ततः।
   नव नु यास्यति सार्थोऽयमेतदा ख्यातु 'मर्हसि।
   सार्थेऽयं चेदिशाजस्य सुवाहाः सत्यदर्शिनः।
   क्षिप्रं जनपदं गता लाभाय मुनुजाल्मंज॥
   एवं प्रकारेर्वेभिदेवना क्रम्य हस्तिभिः।
   राजन् विनिहितं सर्वं समृद्ध सार्थ मण्डलम्॥
   रत्नराशिर्विशीर्णोऽयं गृहवहिव किं प्रथावता।

(महाभारत वन पर्व अ० 64/65)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उन भागों का विवरण दिया है जिनके बीच व्यापार होता था[1]। महाभारत में भी इन विभिन्न भागों का विस्तृत वर्णन मिलता है[2]। गाँव के बाजार में वस्तुओं का कुछ भाग गांव के उपभोग के लिए ही क्रय हो जाता था, लेकिन शेष सभी नगरों के वणिकों को दे दिया जाता था जो उसे देश के अन्य भागों में ले जाकर विक्रय करते थे। आयात की हुई वस्तुओं का व्यापार भी इसी तरह विपरीत दिशा में होता था। व्यापारियों को वणिक या वणिज कहा जाता था। इन वणिकों के अपने व्यवसाय एवं विनियोग के अनुसार विभिन्न नाम होते थे, उदाहरणार्थ क्रय-विक्रयिक, जिसका मुख्य व्यवसाय क्रय और विक्रय करना होता था, वाश्निक, जो अपने रुपए से व्यापार करता था, समस्थानिक जो किसी श्रेणी का सदस्य होता था आदि। कभी-कभी वणिकों के नाम, उस देश के नाम से भी सम्बन्धित रहते थे, जिनसे वे व्यापार किया करते थे, उदाहरणार्थ, गान्धार-वनिज, कश्मीर-वनिज तथा मद्र वनिज। भारत के मुख्य निर्यात मसाले, सुगन्धियों, औषधि, हीरे, मोती, पशुचर्म, वस्त्र (मुख्यतया रेशम), अफीम तथा वास्तुकला की वस्तुएँ आदि थीं और मुख्य आयात वरऊ, शीशे के बर्तन, सोना, चाँदी, ताम्र तथा अन्य धातु आदि थे[3]। यूरोपीय वाणिकवादियों की भाँति ही उस समय के विद्वानों का यह विचार था कि व्यापारी विदेशी व्यापार द्वारा देश के धन में वृद्धि करते हैं इसलिए कामन्दक राजा को राय देते हैं कि उन पर विशेष कृपा रखी जाय[4]। मृच्छकटिक में इसी प्रकार एक ऐसे युवक का प्रशंसा सहित वर्णन किया गया है जिसने विदेशी व्यापार से वैभव प्राप्त किया[5]।

अर्थ-व्यवस्था की इन सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने के पश्चात् अब हम संक्षेप में इस युग की सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाओं का विवरण देते[6]।

---

1. कुरुक्षेत्रं च मत्सयश्च पांचाला शूरसेनिका।
   एवं ब्रह्मर्षिदेशों वैब्रह्मावतोदनन्तरः। (मनुस्मृति 2/19)
2. महाभारत, समावर्ष, अ० 38
3. Mudgal, B. S., Political Economy in Ancient India, Kanpur 1960, p. 131.
4. कामन्दकीय नीतिसार, पाँच, पृष्ठ 78-79
5. अध्याय 2, पृष्ठ 50
6. K. T. Shah, Ancient Foundation of Economics in India, Bombay, 1954, pp. 48-50

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

1. **राज्य**—राज्य पूरे समाज के शासन यंत्र का उच्चतम अंग था। राजतन्त्र होने के कारण राज्य के अधिकारों का प्रारूप अधिक शक्तिमान था। मान्यता यह थी कि प्रथम राजा की संसृति दुर्बल एवं निर्धन जनसाधारण को, बलवानों व धनिकों के अत्याचार से बचाने और हर व्यक्ति द्वारा अपने धर्म का पालन करने की व्यवस्था के लिए की गई थी। महाभारत में ऐसे राजा का बहिष्कार करने को कहा गया है जो निर्बल का संरक्षण न कर सके। क्योंकि वह उसी प्रकार से कर्त्तव्य च्युत माना गया है जैसे कि वह गुरु जो उपदेश न देता हो, पुरोहित जो वेद न पढ़ता हो, पत्नी जो अप्रियवादिनी हो, ग्वाला जो नगर में रहना चाहता हो तथा नाई जो जंगल में रहना चाहता है[1]। ऐसा राजा, जो (जनसाधारण का) संरक्षण नहीं करता भारी कर लेता हो, जो अत्याचारी हो और जो नेतृत्व न करता हो, राजा के रूप में स्वयं कलि है, उसे जनता द्वारा मार डाला जाना चाहिए। जो राजा प्रतिज्ञा के अनुसार जनता का संरक्षण न कर सके, ऐसे राजा को पकड़कर पागल कुत्ते की तरह मार डालना चाहिए[2]।

आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप की परम्परा भारत में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। वास्तव में हमें कोई ऐसा तथ्य नहीं प्राप्त होता जो कि निरहस्तक्षेप आर्थिक व्यवस्था की धारणा का समर्थन करता हो। इसके विपरीत हमें राजा द्वारा आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के कई प्रकरण मिलते हैं। मनुस्मृति में ऐसे अनेकों उद्धरण प्राप्त होते हैं, जो निरहस्तक्षेप अर्थ व्यवस्था के विरुद्ध पड़ते हैं। मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि सामाजिक एवं

---

1. षडेतान पुरुषो जह्यादिवान्नां नावमिवाणवे।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधी यानमृत्विजम्॥
अरक्षितारं राजानम् भार्या चाप्रियवादिनीम्।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितं॥ (महाभारत 12-57, 44, 45).

2. अरक्षितारं हर्त्तारं विलोप्तारमनायकं।
तं वे राजकलिं हन्युः प्रजा सन्नह्य निर्घृणय॥
अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः।
स संहत्य निहन्तव्यः श्ववेय सोन्मादि अतुरः॥
(महाभारत 13, 61, 31, 32).

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आर्थिक क्षेत्र की बुराइयों के लिए राज्य ही अन्तिम रूप से उत्तरदायी है[1]। महाभारत में भी इस बात का विधान है कि राजा प्रजा के साथ पुत्रवत् व्यवहार करे तथा कुटिल तथा अनाचारी लोगों के प्रति कठोर नीति का पालन करे कि स्वर्ण-खान, लवण, अन्नागारों, नदियों पर आर-पार होने के स्थानों तथा हरित-झुंडों पर राजा अधिकार रखे और उनका प्रबन्ध राज्य मंत्रियों के या अन्य किसी पूर्ण रूप से विश्वसनीय व्यक्ति के अधिकार में हो[2]। इस प्रकार हमें यह ज्ञान होता है कि राजकीय तथा सैनिक दृष्टिकोण से जो उद्योग विशेष महत्त्व रखते थे वे सदा राज्य के अधिकार में रहे और इनके अतिरिक्त अन्य सभी उद्योगों एवं व्यवसायों पर राज्य का पूरा नियन्त्रण तथा हस्तक्षेप रहता था।

2. **वर्णाश्रम धर्म**—वर्ण-व्यवस्था के अनुसार समाज चार वर्णों में विभाजित था तथा आश्रम व्यवस्था के अनुसार उनमें से हर एक का जीवन चार मुख्य आश्रम धर्मों के लिए अवधि के अनुसार विभक्त था। ये व्यवस्थाएँ सर्वव्यापी थीं और एक तरह से राज्य के संगठन से उच्च तथा अधिक प्रभावशालिनी थी। वर्ण-व्यवस्था तथा उससे उत्पन्न जाति-व्यवस्था की उचित एवं अनुचित विधि से देशी एवं विदेशी विद्वानों के द्वारा पर्याप्त आलोचना की जा चुकी है। लेकिन यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय और धर्म शास्त्रों के जाति-पाँति एवं छूआ-छूत वाले परिच्छेदों की अवहेलना कर दी जाय तो यह व्यवस्था श्रम-विभाजन के सामान्य सिद्धान्त का प्रति रूप प्रतीत होती है।

3. **व्यावसायिक संगठन**—वर्णाश्रम धर्म की पृष्ठभूमि में व्यक्तियों एवं समूहों का श्रेणी, गण, कुल, जाति, पूग, सार्थ आदि में उप विभाजन हो गया था। ये संगठन मुख्यतया व्यवसाय और व्यापार पर अधिक बल देते थे।

---

1. यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत कर संज्ञितम्।
व्यवहारणं जीवन्तं राजा दृष्टं पृथग्जनम्॥
कारकाश्छिल्पिनश्चव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः।
एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः। (मनु 7/137-138) इत्यादि

2. श्रोतुं चैव न्यसेद राजा प्राज्ञान सर्वार्थ दर्शनः।
व्यवहारेषु सततं तत्र राज्यं प्रतिष्ठितम्॥
आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा।
न्यसेहमात्यान् नृपतिः स्वाप्तान् दा पुरुषान् हितान्॥
(महाभारत, शान्तिपर्व अ० 69/28-29)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इनमें से प्रत्यक्ष रूप से अधिक महत्त्वपूर्ण संगठनों में हमें इस काल में श्रमिकों या दस्तकारों के संगठनों (guilds) का उल्लेख मिलता है। इनके कार्यों का विवरण आदि हम पहले अध्याय में विस्तारपूर्वक दे चुके हैं। यहाँ पर यही कहना उपयुक्त होगा कि लगभग वही स्थिति गुप्त युग या उसके बाद भी रही जब तक कि इन संगठनों का अस्तित्व रहा। इस काल में निस्सन्देह इन संगठनों का अधिकाधिक विकास होता गया[1]। मुख्यतया जिन संगठनों का विकास हुआ वे थे श्रेणी (श्रेष्ठी-व्यापारियों का संगठन) सार्थ (सार्थवाहों का संगठन), कुल (कुलिकों-दस्तकारों का संगठन) आदि। इसके अलावा आर्थिक तथा औद्योगिक संगठन में साझेदारी (संभयसयुत्थान) का स्थान प्रमुख था। बृहस्पति एवं नारद ने साझे के संबंध में अनेक नियमों का विधान बनाया है।

4. **परिवार**—सामाजिक संगठन एवं आर्थिक समुदाय के प्रबन्ध के विभिन्न स्तरों में परिवार आधारभूत तथा प्रारम्भिक संगठन था। परिवार या कुल या गण, व्यक्तिगत रक्त-सम्बन्धों पर आधारित सामाजिक संगठन की एक इकाई है। यद्यपि इनका अधिक महत्त्व सामाजिक संगठन के रूप में ही स्पष्ट प्रतीत होता है पर सम्पूर्ण सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में भी इनका स्थान कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। 'कुल' वर्तमान अर्थ से भिन्न प्रकार का परिवार था। इसमें व्यक्तिगत भावना का महत्त्व न था, बल्कि कुल के सभी सदस्य एक ही पूर्वज के वंशज के रूप में, एक प्रकार के कार्य से, सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार से तथा सामाजिक तन्त्र में समान स्थान के कारण, परस्पर सम्बन्धित थे। ये 'कुल' या 'परिवार' हर सदस्य के लिए विपत्ति या कष्ट के समय में सामाजिक सुरक्षा के साधन थे और साधारणतया सदस्यों के ऊपर अनुशासन के माध्यम थे।

5. **विवाह**—परिवार का आधार प्रारम्भ से ही विवाह रहा है। परिवार एवं विवाह के फलस्वरूप अनेकों सामाजिक एवं आर्थिक सम्बन्धों का प्रादुर्भाव हुआ जिनमें उत्तराधिकार एवं सम्पत्ति सम्बन्ध मुख्य थे। विवाह, सर्व प्रथम 'काम' भावना का साकार रूप था 'काम' पुरुष एवं स्त्री के पारस्परिक प्राकृतिक आकर्षण को कहा जाता था[2]। पुरुष एवं स्त्री के पारस्परिक सन्तुष्टि

---

1. द्रष्टव्य, मैती, वली 'कारपोरेट इकोनामिक लाइफ' शीर्षक अध्याय।
2. स्त्रीषु जातो मनुष्याणां रमणीनां पुरुषेसु वा।
   परस्परः कृतः स्नेहः कामःइत्यभिधीयते ॥ (शार्ङ्गधर 1/6)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

एवं सुख को सम्पूर्ण परिवार के सुख का आधार माना जाता था[1]।

परिवार में स्त्रियों के स्थान का जहाँ तक सम्बन्ध है कि मनु के प्रसिद्ध कथन के अनुसार 'स्त्री स्वातन्त्र-प्राप्ति के योग्य नहीं हैं।[2] और गौतम के अनुसार 'स्त्री अपने धर्म के निर्वाह में स्वतन्त्र नहीं है।[3] गीता में भी हमें स्त्रियों को निम्न कोटि में समझे जाने का उल्लेख मिलता है।[4] दूसरी ओर आर्य-परिवार में स्वयं पुरुष भी बिना स्त्री के सहयोग तथा अनुमति के किसी भी महत्त्वपूर्ण संस्कार को सम्पूर्ण नहीं कर सकता। महाभारत में कहा गया है "स्त्रियों का सदैव पूजन एवं पालन होना चाहिये क्योंकि जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है, वहाँ देवता लोग आनन्द पाते हैं। वे स्त्री के रूप में धन की देवी स्वयं लक्ष्मी हैं, जिनका पूजन प्रत्येक सम्पत्ति की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को करना चाहिये। क्योंकि, जब सम्पत्ति की देवी लक्ष्मी का पूजन और सम्मान होता है तो वे स्वयं स्त्री रूप धारण कर लेती हैं।[5] मनु ने भी निम्न शब्दों में मातृ रूप में स्त्री को सम्मानित किया है आचार्य उपाध्याय की अपेक्षा दस गुना अधिक माननीय हैं। पिता आचार्य से सौ गुना अधिक माननीय है। और माता-पिता से भी सहस्र गुना अधिक माननीय है।[6] इस प्रकार स्त्री का स्थान तत्कालीन भारतीय समाज में उच्च एवं पूज्य था। परन्तु उनकी स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध रहे और आभूषणों के अतिरिक्त उन्हें सम्पत्ति का अधिकार भी नहीं था। स्त्री को सम्पत्ति के तुल्य

---

1. सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता मम्रां भार्सा तथैव च।
यस्मिन्नंव कुले नित्यं, कल्याणं तम वं ध्रवम् (मनुस्मृति 3/60)
2. न स्त्री स्वातन्त्रय्यमर्हति (IX-3)
3. अस्वतन्त्रता धर्म स्त्री (XVIII-3)
4. माहिपार्थ व्ययाश्रित्य चेहपि स्युः पापदोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपियान्ति परागतिम्॥ (गीता 9-32)
5. पूज्या लालयितत्याश्च स्त्रियं जनाधिप्यः।
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः॥
श्रिय एताः स्त्रियां नाम सत्कार्यो भूतिमिच्छिता।
पात्निता निगृहीता च श्रीः स्त्री भवति भारत॥
(अनुशासन पर्व, अध्याय 46-5 और 15)
6. उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्त्रंतु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥ (मनु 11-145)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मानने की प्रथा के उद्धरण पुराणों व महाकाव्यों में बहुलता से मिलते हैं।[1]

6. सम्पत्ति अधिकार—जैसा कि हम पहले संकेत कर चुके हैं, गुप्त काल तक भारत में यह स्थिति आ चुकी थी कि जनसंख्या के विकास, भूमि की माँग में वृद्धि होने से भूमि में व्यक्तिगत सम्पत्तिगत अधिकारी की प्रथा प्रारम्भ हो गयी थी और अधिपत्य मात्र अधिकारी को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं माना जाता था। जहाँ एक ओर हम देखते हैं कि हस्तक्षेप न करने की विचारधारा का भारत में प्राचीन काल से लगभग अभाव रहा वहाँ दूसरी ओर उत्पादन के साधनों में व्यक्तिगत अधिकार, उनके उपयोग, शोषण एवं क्रय-विक्रय की स्वतन्त्रता, प्रारम्भ से ही आर्थिक प्रक्रियाओं का मूलभूत आधार नहीं। उत्पादन के साधनों में भूमि ही एक ऐसा महत्त्वपूर्ण साधन थी, जिसके सम्बन्ध में सम्पति अधिकारी का प्रश्न उठता है। अधिकांश विद्वानों का यही मत है कि भूमि का स्वामित्व कृषक के ही पास था, राजा उसके उत्पादन में से केवल एक निर्धारित अंश का अधिकारो था। बेकार या कृषि न की गई भूमि अवश्य राज्य के अधिकार में मानी जाती थी।[2] मनु, याज्ञवल्क्य[3] एवं नारद[4] ने क्षेत्रों, कूपों, तालों तथा उपवनों की सीमा का जो विवेचन दिया है उससे स्पष्ट यह प्रतीत होता है कि भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार था, नारद ने तो यहाँ तक कहा है कि राजा को गृह एवं क्षेत्रों के स्वामित्व में हस्तक्षेप करना न्यायोचित नहीं है।[5] परन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट है कि भूमि के अन्तर्गत निहित खनिज आदि पर

---

1. देखिए, Sharma, R. S., Light on Early Indian Society and Economy, Chapters 3 & 4.
2. See Jayaswal, K. P. Ancient Hindu Polity, Calcutta, 1924, Kaul, P. V., History of Dharmashastras, Poona, 1941 Vol. II.
3. सीम्ना विवाद क्षेत्रस्य सामन्ता स्वपिरादयः।
   गोपा सीमा कृष्णाणांश्च सर्वे च बनगोचराः॥
   (याज्ञवल्क्य स्मृति 2/154)
4. सीमामध्य तु जातानां वृक्षाणक्षिमयोहयोः।
   फलं पुष्पं च सामान्ये क्षेत्रास्वामिषु निर्द्दिशत्॥ (नारद 11/13)
5. गृहक्षेत्रं च दे दृष्टे वास हेतु कुटुम्बिनाम्।
   तस्मास्तेनाक्षिपाद्राराजा भुमेरधिपतिहि सः (नारद 11/42)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

राजा का पूर्ण या आंशिक स्वामित्व अवश्य था।[1] परन्तु भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की व्यवस्था का तात्पर्य यह नहीं कि राज्य और कृषक के बीच कोई मध्यस्थ न रहा हो। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि भूमि राज्य द्वारा प्रत्यक्ष रूप से अधिकृत नहीं थी। यद्यपि कई विद्वानों का यह भी मत है कि भूमि पर सामूहिक या सार्वजनिक स्वामित्व था। पारिवारिक सम्पत्ति में दायभाग एवं मिताक्षरा दोनों प्रकार की व्यवस्था प्रचलित थी और इनके अनुसार सम्पत्ति का उत्तराधिकार अनुशासित होता था।

7. दास प्रथा[2]—सभी प्राचीन समाजों के समान, प्राचीन भारतीय समाज में भी दास प्रथा का प्रचलन था। पर भारतीय समाज में यह प्रथा गृह कार्य को सम्पन्न करने हेतु रखे गये थोड़े से दासों तक ही सीमित थी। पाश्चात्य देशों की भांति हमें खानों एवं बागानों में दासों के लगाये जाने का उल्लेख भारतवर्ष में नहीं मिलता और न ही दासों के प्रति किसी प्रकार के दुर्व्यवहार का ही कोई प्रमाण मिलता है।[3] तथापि हमें धर्म शास्त्रों में दासों एवं उनके कर्तव्यों का सविस्तार विवरण मिलता है। प्रो० आयंगर[4] का कथन है कि भारतीय दास प्रथा का विशिष्ट आर्थिक गुण यह था कि दास कुटुम्ब के ही एक सदस्य के रूप में माना जाता था और उससे कोई हेय कार्य करने को बाध्य नहीं किया जाता था। भारतीय दास एक प्रकार से वंशगत सेवक था न कि पाश्चात्य अर्थ में 'दास'। इससे यह स्पष्ट होता है कि दासता जन्म से प्राप्त होती थी। दासों की सन्तान स्वामी की सन्तानों की दास होती थी। स्वामी का परिवर्तन दासों के विक्रय या दान से ही सम्भव था। मनु[5] के अनुसार दासत्व के सात स्रोत हैं, युद्ध में पराजय,

1. निधीनां तु-पुराणतनां धातूनामंव च क्षितोः।
   अर्धभाग्रक्षणादर्जा भूमेरधिपति हिसः॥ (मनु 8/39)
2. विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए देव राज चनना Slavery in Ancient India, New Delhi, 1960.
   आर० एस० शर्मा Indian Feudalism : C. 300-1200 Calcutta 1965; Light on Early Indian Society and Economy, Chapter V. तथा कौशाम्बी, उद्धृत ग्रन्थ।
3. Cambridge : History of India, Delhi 1951, p. 205
4. Aiyangar, K. V. R., Ancient Indian Economic Thought Banaras, 1934 pp. 54-55
5. मनुस्मृति-7, 415

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लोभ या भक्ति, दासी पुत्रत्व, क्रय, दान, वंश-उत्तराधिकार एवं अभियोग-दण्ड। दासों को सम्पत्ति का अधिकार नहीं प्राप्त था। परन्तु सम्पत्ति का अधिकार तो पत्नी को या पिता के रहते पुत्र की भी नहीं प्राप्त[1] था।

8—**द्राव्यिक अर्थ-व्यवस्था**—कुछ पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि भारत में द्रव्य एवं द्राव्यिक अर्थ-व्यवस्था का प्रादुर्भाव विदेशी व्यापार से उत्पन्न भुगतान संबंधी समस्याओं के कारण हुआ। पर हम देखते हैं कि वैदिक काल से ही प्राचीन भारत में द्रव्य के विभिन्न रूपों का उल्लेख बराबर मिलता है। हमें पारिश्रमिक तथा पण्यों का उल्लेख द्राव्यिक इकाइयों के रूप में मिलता है। निःसन्देह विभिन्न राजाओं द्वारा विभिन्न कालों एवं स्थानों पर विभिन्न प्रकार की द्राव्यिक इकाइयों का प्रचलन हुआ। पर यह सत्य है कि भारतीय अर्थ-व्यस्था काफी प्रचीन काल से द्राव्यिक अर्थ-व्यवस्था के रूप में रही। नारद[2] के अनुसार विभिन्न मान की द्राव्यिक इकाइयाँ, क्रमशः (छोट से बड़ी) काकणी माश या पल या पण, कार्षापण, अनिन्दा धानक तथा सुवर्ण, बृहस्पति[4] के अनुसार क्रमशः कार्षापण, पण या अण्डिक, धानक, सुवर्ण एवं निष्क तथा मनु[3] के अनुसार क्रमशः कृष्णल, माश, सुवर्ण निष्क एवं धरण थे। द्रव्य एवं चलन की इतनी विस्तृत व्यवस्था होने पर भी भारतीय अर्थ-व्यवस्था धन संचय की ओर प्रवृत्त न होकर तब भी उपभोग प्रधान ही रही और द्रव्य को प्रधान स्थान नहीं मिल पाया। द्रव्य केवल एक सुविधाजनक माध्यम के ही रूप में मुख्यतया कार्य करता था, उसके संचय एवं उत्पान संबंधी कार्य गौण थे।

विषय स्रोत—हम पहले ही कह चुके हैं कि इस पूरी अवधि में 'अर्थ-शास्त्र' की भाँति कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं है, जिससे प्रस्तुत उद्देश्य के लिए पर्याप्त सामग्री मिल सके। अतः हमें आर्थिक विचारों सम्बन्धी सामग्री के लिए धार्मिक, साहित्यिक तथा नीति सम्बन्धी ग्रन्थों का ही आश्रय लेना पड़ता है। इनमें मुख्य स्रोतों को हम निम्नलिलित रूप में वर्गीकृत कर सकते हैं :

---

1. भार्या पुत्रच दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृतः।
   यते समधिर्गाच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्॥
   (मनुस्मृति)
2. नारद Appendix 56-60,
3. बृहस्पति VIII, 9-10.
4. मनु VIII, 134-35.

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

1—धर्म-शास्त्र—उपनिषद एवं पुराण (लेखन काल 300 ई० से 900 ई० तक)।

2—नीतिशास्त्र—मनुस्मृति (प्रथम शताब्दी ई० पू०—प्रथम शताब्दी ईसवी) याज्ञवल्क्य-स्मृति (तृतीय शताब्दी ईसवी के लगभग), नारद-स्मृति (चतुर्थ शताब्दी ईसवी), बृहस्पति-स्मृति (चतुर्थ शताब्दी ईसवी), कात्यायन-स्मृति (लगभग तृतीय शताब्दी ईसवी)।

3—काव्य—रामायण (400 से 200 ई० पू०), महाभारत (500 ई० पू०—400 ई० पू०), कालिदास (प्रथम शताब्दी ई० पू०), शूद्रक (छठी शताब्दी ई० पू०), बाणभट्ट (नवीं शताब्दी ई०)।

निःसन्देह वैदिककालीन भारत के सुदृढ़ आदर्शवाद के पश्चात् चाणक्य ने विद्‌ज्जनों एवं शासकों का ध्यान भौतिकवाद की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया था, पर फिर उसके बाद 'भौतिकवाद' को आसुरदर्शन तथा आदर्शवाद को दैवदर्शन मानने की प्रथा फिर से चल पड़ी। छान्दोग्य[1] उपनिषद् में इन्द्र और विरोचन के प्रजापति के पास शिक्षा ग्रहण करने जाने तथा उन दोनों को क्रमशः देवों के प्रतिनिधि के रूप में आदर्शवाद और असुरों के प्रतिनिधि के रूप में भौतिकवाद की शिक्षा दिये जाने की कथा इस विचारधारा का स्पष्ट प्रमाण है। यही विचार फिर एतरेय ब्राह्मण,[2] मैत्रेयी उपनिषद्[3] एवं विष्णु पुराण[4] में भी मिलते हैं। यही कारण है कि हमें इस काल में अर्थप्रधान ग्रन्थों का सर्वथा अभाव मिलता है, जहाँ कहीं भी भौतिकवाद का उल्लेख मिलता है, वह चार्वाक तथा चाणक्य की विचारधारा एवं लोकायत के विचारों का खण्डन करने के सन्दर्भ में ही मिलता है।

अर्थशास्त्र की धारणा

'अर्थ एव प्रधानं इति कौटिल्य' की विचारधारा की प्रतिक्रिया में पक्ष और विपक्ष दोनों ओर से विचारों का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य से लगभग सात शताब्दी पश्चात् नीतिकार उनकी विचारधारा से सहमत प्रतीत होते हैं और उसे

---

1. आठ 7, 15
2. दो 42, 5।
3. सात 1, 10।
4. तीन 18, 14, 26

6

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नन्द वंश की समाप्ति तथा चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक का श्रेय देते हुए प्रशंसित करते हैं[1]। दण्डी ने अपने 'दशकुमार-चरित' में भी कौटिल्य की प्रशंसा की है। शुक और विदुर भी बहुत कुछ इसी विचारधारा के माने जा सकते हैं। यद्यपि धर्म और अर्थ के सापेक्षिक महत्त्व पर कौटिल्य और शुक्र में भारी मतभेद है।

दूसरी ओर कौटिल्य की अर्थप्रधान विचारधारा के विरुद्ध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अनेक उल्लेख धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्रों में मिलते हैं। यहाँ तक कि काव्य भी इस प्रकार के विचारों से भरे हैं। बाणभट्ट[2] निम्न शब्दों में कौटिल्य के विचारों की निन्दा करते हैं।

"क्या ऐसे व्यक्तियों के लिए कोई औचित्य-अनौचित्य का महत्त्व है, जो कि क्रूर तथा निर्दयी धारणाओं से भरपूर कौटलीय अर्थशास्त्र को प्रामाणिक आदर्श मानते हैं, जिनके गुरु सदैव तांत्रिक विद्या के कारण कठोरहृदय हो गये हैं, जिनके लिये दूसरों को सदैव धोखा देने वाले मन्त्री ही उपदेशक हैं, जिनकी सहस्रों राजाओं द्वारा प्राप्त और फिर त्यक्त लक्ष्मी पर आसक्ति है, जो विनाशकारी विज्ञान के उपयोग में लगे हुए हैं और जिनके लिए प्रिय बान्धव ही हत्या के उचित पात्र हैं।"

इस प्रकार कौटिल्य के पश्चात् विचारधारा ने स्पष्टतः धर्मप्रधान मोड़ ले लिया। पुरुषार्थों के सापेक्षिक महत्त्व के सम्बन्ध में अर्थ सदैव धर्म से गौण रहा[3]

---

1. यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः पपात मूलतः श्रीमान् सुपर्वा नन्द पर्वतः। एकाकी मन्त्रशक्त्याः यः युक्त्या शक्ति-धरोपमः। आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम्। कामन्दक नीतिसार एक 4-5।
2. किं वा तेषां सांप्रतं येषामतिनृशंस प्रायोपदेश निर्घृणं कौटिल्यशासं प्रमाणं, अभिचार क्रिया क्रूरकप्रकृतयः पुरोधसो गुरवः, पराभिसंधानपरा मन्त्रिण उपदेष्टारः नरपतिसहस्र भुक्तोज्झिताया लक्ष्म्यामासक्तिः मारणात्मकेषु शास्त्रेष्वभियोग सहजप्रेमार्द्रहृदयानुरक्ता भ्रातर उच्छेद्याः।
   (कादम्बरी परि० 108)
3. उदाहरणार्थ :
   स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यहारतः।
   अर्थशास्त्रस्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः॥ (यज्ञवल्क्य दो, 21)
   यत्र विप्रतिपत्तिः स्याद्धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोः।
   अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत्॥ (नारद एक, 1, 39)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

और कौटिल्य के कथन 'अर्थमूलौ हि धर्मार्थकामौ इति' का महत्त्व लगभग लुप्त-सा प्रतीत होता है। मनु[1] का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को धर्म, अर्थ एवं काम तीनों की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए पर यदि कभी अर्थ और काम धर्म के साथ स्पर्धा करते हैं तो अर्थ या काम में से किसी को त्याग देना चाहिए। उनका कथन है कि हर काम का अन्त कोई न कोई निर्दिष्ट हित होता है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह क्षुधा, पिपासा एवं यौन आदि सामान्य तथा निम्न श्रेणी की आवश्यकताओं की पूर्ति के पीछे भागता है। पर अधिक बल उनकी तृप्ति पर न देकर उनके कम करने पर देना चाहिए[2]। वात्स्यायन के अनुसार धर्म, अर्थ एवं काम में क्रमशः पूर्व पर से श्रेष्ठतर हैं पर राजा के लिए अर्थ ही उच्चतम उद्देश्य होना चाहिए।[3]

परन्तु यद्यपि 'अर्थ' धर्म की अपेक्षा गौण उद्देश्य के रूप में माना जाता था, पर उसका महत्त्व मानव जीवन के लिए किसी प्रकार कम नहीं समझा जाता था। कुछ लोगों का यह विश्वास कि भारतीय मस्तिष्क ने प्रारम्भ से ही भौतिक समृद्धि की ओर से बिल्कुल मुख मोड़ लिया था, सत्य नहीं माना जा सकता। महाभारत के शान्ति पर्व में अर्जुन मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये धन की महत्ता का वर्णन निम्न शब्दों में करते हैं। 'जो व्यक्ति सदैव संन्यासी जीवन

त्रिवर्गयुक्तः प्राज्ञानामारम्भे भरतर्षभ।
धर्मार्थविनिरुध्यन्ते त्रिवर्गासम्भवे नराः॥
कामार्थो लिप्समानस्तु धर्ममेवादिकश्चरेत्।
नहि धर्मादपेत्यर्थः कामो वापि कदाचन॥

(महाभारत उद्योगपर्व 124, 38, 39)

1. धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थो धर्मस्य च। अर्थ सेवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः (मनु० दो, 224) परित्यजेदर्थकामौ यो स्याता धर्मवर्जितौ॥ (मनु० चार, 176)
2. यहाँ पर यह प्रतीत होता है कि यही भारतीय आर्थिक विचारों की परम्परा का मूलभूत आधार है जिसका प्रतिनिधित्व आज प्रो० जे० के० मेहता करते हैं जो कि अर्थशास्त्र का उद्देश्य आवश्यकताओं का न्यूनीकरण मानते हैं।
3. तेषां समवाये पूर्व : पूर्वो गरीयान् अर्थश्च राज्ञः

(कामसूत्र एक, 214, 215)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

व्यतीत करता है वह अपने किसी भी कार्य के द्वारा संसार की भोग्य वस्तुओं का आनन्द नहीं उठा सकता। जिसे हम धन कहते हैं, वह पूर्णरूप से धर्म पर निर्भर रहता है। जो दूसरों का धन चुराता है वह धर्म की चोरी करता है। दरिद्रता पाप है। हर प्रकार के अच्छे कार्य धन के अधिकार से ही सम्पन्न होते हैं। धन से ही सभी धार्मिक कार्य सभी वैभव और तदनुसार स्वर्ग प्राप्त होते हैं। धन से धर्म की वृद्धि होती है। जिसके पास धन नहीं वह इहलोक और परलोक दोनों खो बैठता है[1]" इसी प्रकार रामायण में राम का भरत से यह प्रश्न करना कि "क्या तुम्हारे सब लोग कृषि एवं पशुपालन में संलग्न हैं। वास्तव में वार्त्ता में संलग्न लोग सदैव सुखी रहते हैं"[2], इस बात का द्योतक है कि धनोपार्जन को पर्याप्त महत्ता दी जाती रही।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल की विचारधारा धर्मप्रधान होते हुए भी अर्थ की महत्ता की अवहेलना नहीं करती है। अर्थशास्त्र का अध्ययन एवं व्यवहार जीवन के कर्त्तव्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वार्त्ता अर्थात् कृषि और पशुपालन एवं वाणिज्य जीवन के प्रमुख अंगों में से एक था और विद्याओं में भी उसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। पर अर्थशास्त्र की धारणा वार्त्ता तक ही सीमित न थी, इसका क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत था। यह कहा जा सकता है अर्थशास्त्र वार्त्ता, दण्डनीति, प्रशासन एवं राज्यशास्त्र का समन्वय था। शायद

---

1. योवाजीविशेदेक्षं कर्मणा नैव कस्यचित्।
समारम्भान् बुभूषेत हतस्वस्तिरकिंचन॥ बारह 8,6
यं त्विमं धर्ममित्याहुर्धनादेष प्रवर्तते॥ बारह 8,12
धर्मं स हरते तथ्य धनं हरति यस्य यः बारह 8,13
............दारिद्र्यं पातकं लोके........ बारह 8,14
अर्थेभ्यो हि विवृद्धेभ्यः सम्भृतेभ्यस्ततस्ततः।
क्रियाः सर्व प्रवर्तन्ते............ बारह 8,16
अर्थाद्धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिपः बारह 8,17
धनाद्धर्म प्रवर्धते।
नाधनस्यास्त्ययं लोको न परः बारह 8,22

2. कच्चित्ते दयिता सर्वे कृषि गोरक्षजीविनः।
वार्त्तायां संश्रितस्तात् लोको हि सुखमेधते।
बाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड अध्याय 100, श्लोक 47

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इसीलिये राजा के लिए इसका अध्ययन आवश्यक माना जाता था। अतः हम इस काल की "अर्थशास्त्र" की धारणा को मध्ययुगीन यूरोपीय अर्थशास्त्र की ही भाँति न्यायशास्त्र, राज्यशास्त्र एवं अर्थशास्त्र का समन्वय कह सकते हैं।

यहाँ पर 'धन' (अर्थशास्त्र के मुख्य विषय) के संबंध में कुछ शब्द कहना सन्दर्भरहित न होगा। धन की धारणा एवं उसके संचय की विभिन्न विधियाँ प्राचीन विचारकों द्वारा वर्णित की गई हैं। महाभारत में धन का जो अर्थ व्यास द्वारा दिया गया है, वह दुर्योधन तथा युधिष्ठिर के द्यूत क्रीड़ा के सन्दर्भ में हैं। ऐसी वस्तुएँ जो द्यूत में बाजी पर लगाई जा सकती हैं, जैसे मूल्यवान धातु, हीरे, हार, सुवर्ण के सिक्के (निष्क), 'अश्व', दास, हस्ति, गौ, अज, ग्राम, नगर एवं राज्य तो आते ही थे साथ ही भाई और अर्धाङ्गिनी पत्नी भी उसी धन में सम्मिलित थे[1]। मनु ने धन के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये स्थान पर भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया है। धन के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करते हुए उन्होंने अर्थ, धन, स्व, वित्त, रिक्थ, द्रव्य आदि का प्रयोग किया है। मनुस्मृति के सातवें अध्याय में यह बताया गया है कि अश्व, गज, छत्र, द्रव्य, अन्न, पशु एवं स्त्री उस व्यक्ति की सम्पत्ति हैं जो उन्हें जीत लेता है[2]। इस प्रकार हम देखते हैं कि धन की धारणा इतनी विस्तृत थी कि उसमें न केवल जड़ पदार्थ ही आते थे बल्कि चेतन प्राणियों को भी उसमें सम्मिलित किया जाता था।

धनोपार्जन की विभिन्न विधियों में से व्यास ने मुख्यतया समुद्रयात्रा, वनयात्रा, कृषि, पशुपालन तथा सुदूरगमन का उल्लेख किया है।[3] मनु ने द्यूत क्रीड़ा आदि की आलोचना की है और धनोपार्जन की उपयुक्त विधियों को अपनाने का

---

1. महाभारत, सभापर्वणि द्यूतपर्व अ० 60, 61, 65
2. रथाश्वं हस्तिने छत्रं धान्यं पशून् स्त्रियः।
   सर्वद्रव्याणि कुप्य च यो यज्जयति तस्य तत्॥ (मनु०7/96)
3. अर्थे च महती तृष्णा स च दुःखेन लभ्यते॥
   परित्यज्य प्रियान् धनार्थ हि मे मते।
   प्रविशन्ति नरा वीराः समुद्रमटवीं तथा॥
   कृषिगोरक्षमित्येके प्रतिपद्यन्ति मानवाः।
   पुरुषाः प्रेष्यतामेके निर्गच्छन्ति धनार्थिनः॥

(महाभारत, वनपर्व अ० 259)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उपदेश दिया है।[1] मनु ने सदैव धनोपार्जन में शुद्ध व्यवहार पर बल दिया है। विदुर का कथन है कि धन सदैव न्यायोचित कार्यों से प्राप्त होता है। उनके अनुसार अवैध विधियों से धन प्राप्त करने वाले व्यक्ति को किसी विवाद में साक्षी नहीं बनाया जा सकता।[2]

धनोपार्जन के उद्देश्य के सम्बन्ध में इन विचारकों का मत है कि धन स्वयं अपने में इष्ट नहीं है बल्कि एक पुरुषार्थ, अर्थ की पूर्ति के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। शुक्र के अनुसार 'धन का उपार्जन विद्या की भाँति प्रतिक्षण', बूंद-बूंद करके किया जाना चाहिये जो भी विद्या या धन की उपलब्धि का इच्छुक है उसे एक क्षण या एक कण को भी नहीं खोना चाहिये। धन का उपार्जन सदैव कल्याणकारी होता है यदि उसे सुशील पत्नी, पुत्र या मित्र के पालन तथा दान के लिये उपयोग में लाया जाये। इस कार्य के अलावा धन एवं दासों का क्या प्रयोजन है।[3] इस प्रकार धन का महत्त्व उसके कल्याणकारी उपयोग के लिये है। उपनिषदों में 'हित' (कल्याण) तथा 'हिततम' (अधिकतम कल्याण) के लिए साधनों के उपयोग में भेद किया गया है।[4] महाभारत ने अधिकतम हित की भावना को 'सत्य' कहा है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि इन विचारकों की हर धारणा के समान धन की धारणा में भी अधिकतम हित का प्रयोजन निहित था।

---

1. द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत्,
   राजान्तकारणेवेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥
   (मनु॰ 9/221)
2. श्रीमंगलात् प्रभवति प्रागल्भ्यात् सम्प्रवर्धते ।
   दास्यात् तु कुरुते मूलं संयमात् प्रतितिष्ठति ॥
   सामुद्रिकं वाणिजं चोरपूर्वं नेतां साक्षेत्दधिकुर्वीत ॥
   (महाभारत उद्योगपर्व अ॰ 35)
3. क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च साधयेत् ।
   न त्याज्यौ तु क्षणकणौ नित्यं विद्याधनार्थिनां ॥
   सुभार्या पुत्रमित्रार्थं हितं नित्यं धनार्जन ।
   दानार्थं च बिना त्वैते किं धनैश्च जनैश्च किम् ॥
   (शुक्रनीतिसार तीन 174-175)
4. त्वमेव वृणीष्व यंत्वं मनुष्याय हिततम् मन्यस इति ।
   (कौषीतकी ब्रा॰ उ॰ तीन ।)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उत्पादन एवं व्यवसाय :

स्पष्टतया इस काल की आर्थिक विचारधारा में उत्पादन का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान था। एक तरह से 'अर्थशास्त्र' को 'उत्पादन अर्थशास्त्र' कहा जा सकता था। धन के उपयोग के सम्बन्धों में विचारकों ने यह तो स्पष्ट रूप से कहा कि धन का उपार्जन उपयोग के लिये किया जाना चाहिये, प्राथमिकताओं तथा प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में उन्होंने कोई विस्तृत नियम या सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया। इसी प्रकार वितरण की समस्या भी उत्पादन की सहायक प्रक्रिया के ही रूप में थी अर्थात् उत्पादन क्रिया को सम्पन्न करने के लिये उत्पादन के साधनों—भूमि, श्रम एवं पूंजी के उपयोग के लिये पारिश्रमिक देना पड़ता था परन्तु वितरण को उत्पादन से स्वतन्त्र समस्या नहीं माना गया। विनिमय उत्पादन और उपभोग के बीच एक कड़ी मात्र थी। राज्य एवं आर्थिक व्यवस्था का सम्बन्ध अवश्य बहुत महत्त्वपूर्ण था और राजस्व के सिद्धांत उत्पादन को बढ़ाने मात्र का ध्येय न लेकर, राज्य की सुरक्षा एवं राजकुल के पालन एवं संरक्षण के उद्देश्य से अधिक प्रेरित माने गये हैं।

इस प्रकार, उत्पादन इस समय की आर्थिक विचारधारा का केन्द्र बिन्दु था। उत्पादन के क्षेत्र में भी स्वभावतः कृषि को सर्वोच्च स्थान दिया गया था। अधिकांश ग्रन्थों में अर्थशास्त्र के समीपतम अर्थ वाला कोई शब्द यदि उपयोग में लाया गया है तो वह है 'वार्त्ता' जिसे साधारणतया कृषि, वाणिज्य, तथा पशुपालन के रूप में परिभाषित किया गया है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र 'वार्त्ता' तक ही सीमित था, परन्तु जैसा कि हम कौटिल्य वाले अध्याय में बता आये हैं, अर्थशास्त्र का क्षेत्र वार्त्ता की अपेक्षा विस्तृत था, पर वार्त्ता अर्थशास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय था। शुक्रनीति[1] एवं भागवतपुराण[2] में द्रव्य का उधार देना भी वार्त्ता के ही अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया गया है। देवीपुराण में कर्मान्त (अर्थात उद्योग कार्य आदि) को भी वार्त्ता में सम्मिलित किया गया[3] है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि वार्त्ता का

---

1. कुसीद कृषि वाणिज्यं गोरक्षा वार्त्तयोच्यते।
सम्पन्नो वार्त्तया साधुर्मे वृत्तेर्भयमृच्छति॥ (शुक्रनीति एक 156)
2. कृषि वाणिज्य गोरक्षा कुसीदं तुर्यमुच्येते।
वार्त्ताचतुर्विधं तत्र वयं, गोवृत्तयोऽनिशम्॥ (भगवतपुराण दस 24, 21)
3. पश्वादिपालनाद्देवि कृषिकर्मान्त कारणात्।
वार्त्ताया नित्ययुक्तः स्यात् पशूनां चैव रक्षणे। (देवीपुराण अ० 45)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

क्षेत्र क्रमशः बढ़ता चला गया और यह 'व्यावसायिक' विषयों के अध्ययन का शास्त्र[1] बन गया यद्यपि कृषि का स्थान अब भी इसमें प्रमुख था। चाहे किसी भी अर्थ,—विस्तृत या संकुचित, में इसका प्रयोग किया जाता रहा हो, वार्त्ता का महत्त्व राज्य और अर्थव्यवस्था के लिए बहुत अधिक माना जाता था। वार्त्ता के ही अनुसार सामाजिक अर्थव्यवस्था में दो वर्गों की कार्य व्यवस्थाओं का निर्धारण होता है वैश्य एवं शूद्र। शुक्र का तो यहाँ तक कहना है कि 'ऐसा व्यक्ति जिसे वार्त्ता का उचित ज्ञान है' अपने व्यवसाय के सम्बन्ध में कभी शंकाकुल नहीं होता चाहे वह किसी वर्ण का क्यों न हो। कामन्दक[2] का कथन है कि वार्त्ता का व्यवहार करने वाले लोगों को राज्य का विशेष संरक्षण प्राप्त होना चाहिए क्योंकि वार्त्ता के बिना यह संसार जीवित ही मृत है। यही विचार हमें रामायण[3] में भी मिलता है। याज्ञवल्क्य राजा द्वारा वार्त्ता के अध्ययन पर इसी विचार से बल[4] देते हैं। महाभारत में आर्थिक व्यवस्था में वार्त्ता के महत्त्व को निम्न शब्दों में वर्णित किया गया है। "इस संसार का मूल वार्त्ता है। जब तक राजा वार्त्ता का पालन करता है तब तक सब कुछ ठीक रहता है।"[5]

यद्यपि संकुचित अर्थ में वार्त्ता कृषि के तुल्य है, पर जब वार्त्ता के अन्तर्गत समस्त धनोपार्जन व्यवसायों को सम्मिलित किया गया तब भी कृषि का स्थान उन सबसे सर्वोपरि ही रहा। शुक्रनीति के अनुसार कृषि व्यवसायों में सर्वोत्तम है, व्यापार एवं सेवा मध्यम है तथा भिक्षा निकृष्ट[6] है। कृषि के सर्वोत्तम होने के सम्बन्ध में यह उल्लेख किया गया है कि इस व्यवसाय की माता सरिताएँ हैं।

---

1. ततः प्रादुर्बभौ तासां सिद्धिर्वार्त्ता युगे पुनः।
   वार्त्तार्थे साधिकाषन्यां वृत्तिस्तासां हि कामतः॥ (वायुपुराण 8, 124)
2. आयत्तरक्षणं राशि वार्त्तारक्षममाश्रिता!
   वार्त्ताच्छेदं हि लोकोऽयं श्वसन्नपि न जीवति॥
   (कामंदकनीतिसार एक 12)
3. अयोध्याकांड अध्याय 100, 48 (श्लोक पहले उद्धृत है)
4. विनीतस्त्वथ वार्त्तायां त्रय्यां च नराधिपः॥ (याज्ञवल्क्य स्मृति एक 313)
5. वार्ता मूलादयं लोकस्य तथा धार्यते सदा।
   तत्सर्वं वर्तते सम्यग्यथा रक्षति भूमिपः॥ (वनपर्व 67, 35)
6. कृषिस्तु चोत्तमावृत्तिः या सरिन्मातृकामता।
   मध्यमावैश्यवृत्तिश्च शूद्र वृत्तिस्तुचाधमा॥ (शु० नी० 3/264)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यह कथन अर्थशास्त्र के विद्यार्थी को फ्रेंच भौतिकवादी अर्थशास्त्रियों की याद दिलाता है जो कृषि को सर्वोत्तम तथा एकमात्र उत्पादक व्यवसाय मानते थे क्योंकि इसमें प्रकृति का हाथ सबसे अधिक रहता है। लेकिन वास्तव में भारतीय विचारकों ने कृषि को अपने ग्रन्थों में जो उच्च स्थान दिया था वह तत्कालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के कृषि प्रधान होने के कारण था और साथ ही बहुत कम ऐसी आवश्यकताएँ उस समय के लोगों की ऐसी थीं जिनकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि द्वारा पूर्ति न हो सकती थी।

इन विचारकों ने कृषि की महत्ता बता कर अपने कार्य को समाप्त नहीं समझा, बल्कि कृषि के उपयुक्त संचालन हेतु उन्होंने भूमि के प्रकार, कार्यविधि, वर्षा एवं जल, बीज आदि के सम्बन्ध में भी विस्तृत रूप से अपने विचार प्रस्तुत किये। मनु ने वैदिक परम्परानुसार उर्वरा भूमि एवं उत्कृष्ट बीजों के महत्त्व पर पर्याप्त बल दिया।[1] इसी प्रकार महाभारत[2] में युधिष्ठिर एवं यक्ष के बीच जो वार्त्तालाप है, उसमें भी कृषि के लिए अच्छे बीजों के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है।

कृषि की तकनीकी विधियों का जहाँ तक प्रश्न है यह तो निर्विवाद सत्य है कि बैलों द्वारा हल का खींचा जाना भारतीय कृषि का परम्परा से एक मुख्य अंग रहा है। परन्तु इस काल की कृषि विधि इस अर्थ में आज की अपेक्षा अधिक उन्नत प्रतीत होती है कि हमारे प्राचीन विचारकों ने विस्तृत खेती के लिए ऐसे

---

1. सुबीजं चैव सुक्षेत्रे जातं संपद्यते यथा।
यथा भार्याज्जात आर्यायां सर्वसंस्कार मर्हति॥
बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः।
बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तमेयं तु व्यवस्थितिः॥
अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति।
अजीवमपि क्षेत्रं यत्केवलं स्थंडिलं भत्यवेत्॥
यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यगा ऋषयोभवत्।
पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्बीजं प्रशस्यते॥ (मनुस्मृति 10/96,72)

2. किंस्विदावपत्तां श्रेष्ठं किं स्विन्निवपतां वरम्।
वर्षभाषपतां श्रेष्ठं बीजं निवपतां वरम्॥
अग्निर्हिमस्य भैषज्यं भूमिरावपनं महत्।
(महाभारत वनपर्व अ॰ 313)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हलों का उल्लेख किया है जो सोलह बैलों द्वारा खींचा जाता था।[1] सम्भवत: ऐसे हल, आधुनिक ट्रैक्टरों की भाँति गहरी जुताई के लिए अत्यन्त उपयोगी रहे होंगे। डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल[2] के अनुसार इन बड़े-बड़े हलों को 'हाली' या कभो-कभी 'जित्य' कहा जाता था, जिसका अर्थ शायद यह था कि यह यंत्र कठिन से कठिन 'भूमि को जोतने के लिये (अर्थात् जोतने में) समर्थ था। किसानों का वर्गीकरण हल के स्वामित्व के अनुसार किया जाता था। उदाहरणार्थ 'अहाली', जिसके पास हल न हो, 'सुहाली' जिसके पास सुन्दर हल हो तथा दुर्हाली जिसके पास खराब हल हो। इसके अलावा महाभारत के एक श्लोक[3] में हमें यह भी ज्ञात होता है कि यह लोग दुहरी फसल उगाने के महत्त्व से भी परिचित थे। क्योंकि इसमें गेहूँ तथा यव (जौ) के साथ-साथ बोये जाने का संकेत मिलता है।

ये विचारक केवल उत्कृष्ट बीज को सुन्दर भूमि में गहरे जोत कर बो देना मात्र ही पर्याप्त नहीं समझते थे, बल्कि जल एवं सिंचाई की व्यवस्था को भी आवश्यक मानते थे। आज की भाँति तब भी भारतीय कृषि मुख्यतया वर्षा पर निर्भर रहती थी, इसीलिये महाभारत में ऋषि धौम्य, युधिष्ठिर एवं उनके वनवासी साथियों को भोजन प्राप्ति के लिये इन्द्र की पूजा करने का उपदेश देते हैं।[4] वर्षा की अनिश्चितता के कारण नदियों से सामीप्य रखने वाली भूमि को बहुत ही उत्तम माना जाता था। मनुस्मृति के अनुसार सरस्वती और दृषद्वती

---

1. सीर भेदैः कृषिः प्रोक्तामन्वाद्यै ब्राह्मणादिषु।
   ब्राह्मणैः सौशगवं चतुरस्त्रं यथा परैः॥ (शुक्रनीति 4/260)
2. इन्डिया ऐज़ नोन टू पाणिनि।
3. ये यावान्ना जनपदा गोधूमान्नास्तथैव च।
   तान् देशान् संश्रियन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते॥ (महाभारत, वनपर्व)
4. पुरा सृष्टानि भूतानि पीड्यन्ते क्षुधयाभृशम्।
   ततोऽनुकम्पया तेषां सविता स्वापिता यथा॥
   गत्वोत्तरायणं तेजो रसानुद्धृत्य रश्मिभिः।
   दक्षिणायनमावृत्ता महीं निशिवते रविः॥
   क्षेत्रघूते ततस्तस्मिन्नोषधीरोषधीपतिः।
   दिवस्तेजः समुधृत्य जनयामास वारिणाः॥
   निर्षिक्तश्चन्द्रतेजोभिः त्वयोनौ निर्गते रविः॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नदियों के बीच की भूमि, जिसे 'ब्रह्मवर्त' कहा जाता था, देश की उत्कृष्टतम भूमि थी।[1] महाभारत में तीर्थयात्रा पर्व में लगभग देश की सभी नदियों का उल्लेख मिलता है पर गंगा तथा उसके द्वारा सिंचित प्रदेश को सर्वश्रेष्ठ माना गया[2] है। इसके अतिरिक्त सिंचाई के साधनों का कोई विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन कृषि को वर्षा की अनिश्चितता से संरक्षण प्रदान करने के लिये कृत्रिम साधनों के महत्त्व का ज्ञान हमारे इन विचारकों को पूर्ण रूप से था, इसका आभास अवश्य मिलता है। महाभारत में नारद युधिष्ठिर से पूछते हैं, "क्या आपके राष्ट्र में कृषि पूर्णतया वर्षा पर निर्भर है या जल से परिपूर्ण तालाबों एवं कूपों का भी कहीं निर्माण किया गया है?"[3] इससे स्पष्ट है कि ये विचारक भली-भाँति जानते थे कि कृषि की उन्नति, वर्षा पर ही निर्भर रह कर नहीं हो सकती, सिंचाई के कृत्रिम साधनों का निर्माण करना अत्यावश्यक है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि शास्त्रों एवं पुराणों तथा तत्कालीन साहित्यिक लेखकों ने जिस अर्थ-व्यवस्था का रूप प्रस्तुत किया है, वह कृषिप्रधान है।

औषध्यः षड्सा मेध्यास्तदन्नं प्राणिनां भुविः ॥
एवंमतुमवं ह्यन्नंभूतानां प्राणधारणम् ।
पितैष सर्वभूतानां तस्मात् तं शरणं व्रजः ॥
(महाभारत वनपर्व, अध्याय 3)

1. सरस्वतीदृषद्वत्योर्द्वयोर्नद्योपदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मवर्त्तं प्रचक्षते ॥ (मनुस्मृति 2/17)

2. यत्र सा गोमती पुण्या रम्यादेवर्षिसेविता ।
महानदी च तत्रैव तथा गयशिरो नृपः ॥
गंगा यत्र नदी पुण्या यस्यास्तीरे भगीरथः ।
बाहुदा च नदी यत्र नन्दा च गिरिमूर्धनि ॥
यत्र गंगा महाराज स देशस्तत्तपोवनः ।
सिद्धिक्षेत्रं च तज्ज्ञेयं गंगातीर समाश्रितम् ॥
(म० तीर्थयात्रा पर्व अ० 85)

3. कच्चिद् राष्ट्रे तड़ागानि पूर्णानि च बृहन्ति च ।
भागशो विनिविष्टानि न कृषि देवमातृका ॥
(म० सभापर्व, अध्याय 5)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उत्पादन के त्रिभिन्न क्षेत्रों में कृषि ही सर्वोपरि थी। यद्यपि अन्य व्यवसायों का लोप नहीं हो गया था। यह सम्भव भी नहीं। पर इन विचारकों के मस्तिष्क में कृषि की प्रधानता का एक स्पष्ट-सा चित्र बना हुआ था। रामायण एवं महाभारत में हमें उद्योगों का काफी विकसित स्वरूप मिलता[1] है, जिससे व्यवसायों की तत्कालीन स्थिति का तो आभास मिलता है पर उनके सम्बन्ध में इन विचारकों की नीति के सम्बन्ध में अधिक विवरण नहीं मिलता। निःसन्देह उद्योगों की ओर राज्य की क्या नीति होनी चाहिए, इस विषय पर इन लोगों ने बहुत कुछ कहा है। मनु के अनुसार किसी शिल्पी का हाथ उन वस्तुओं में से एक है, जिन्हें कि सदैव पवित्र माना जाना चाहिए।[2] इस प्रकार, औद्योगिक शिल्पियों को राज्य का संरक्षण एवं प्रोत्साहन उद्योगों के विकास की दिशा में महत्त्वपूर्ण माना गया है। नल ने राजा ऋतुपर्ण से अपनी जीविका की माँग केवल इसलिये इसी आधार पर की कि वे कई शिल्पों में पारंगत थे और ऋतुपर्ण ने इसी आधार पर उनकी माँग को स्वीकार भी कर लिया।[3] राज्य के संरक्षण के ही कारण उद्योग और शिल्प मुख्यतया राजधानियों में ही पनपे और यह परम्परा मौर्य से गुप्त एवं मुगलकाल तक बराबर चलती चली आई। इस प्रकार उद्योग पूरी अर्थ व्यवस्था में उतने महत्त्वपूर्ण नहीं थे जितनी कृषि।

उत्पादन की कृषिप्रधान विचारधारा में स्वभावतः भूमि एवं श्रम ही दोनों ऐसे साधन थे, जिनको कि अधिक महत्त्व दिया गया था। क्योंकि यद्यपि पूंजी तथा संगठन भी कुछ सीमा तक आवश्यक थे, पर उत्पादन की तकनीकी विधि एवं आकार को ध्यान में रखते हुए इनका महत्त्व उत्पादन के क्षेत्र में बहुत अधिक न था। पूंजी का लेन-देन अधिकांश अनुत्पादक कार्यों के लिये हुआ करता था और संगठन का महत्त्व सैनिक एवं नागरिक कार्यों में जितना अधिक था उतना

---

1. Mudgal, op cit. pp. 92-93
2. नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पणये यच्च प्रसारितम् ॥ (मनु० 5/129).
3. यानि शिल्पानि लोकेऽस्मिन् यद्येवान्यांश्च दुष्करम् ।
   सर्वं यतिष्ये कर्तुमृतुपर्ण भरस्व माम् ॥
   बत वाहुम् भद्रं ते सर्वमेत करिष्यसि ॥
   शीघ्रयाने सदावुद्धिर्ध्रियते मे विशेषतः ॥
   (महाभारत, वनपर्व नलोपाख्यान, अध्याय 67).
4. Aiyangar, op. cit. p. 76

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आर्थिक उत्पादन के कार्यों में नहीं। पिछड़ी हुई उत्पादन तकनीक तथा लघु आकार ही इन दो साधनों के तुलनात्मक कम महत्त्व के कारण थे।

भूमि के महत्त्व के बारे में हम थोड़ा बहुत पहले कह चुके हैं। तथापि शुक्राचार्य इस तर्क को फ्रांसीसी भौतिकवादियों की भाँति इस क्षेत्र में अन्तिम छोर तक नहीं ले गये पर इस बात का हमें स्पष्ट कथन शुक्र में मिलता है कि "भूमि सब धन का स्रोत है। वे कहते हैं," इसी के लिये राजाओं ने अपने जीवन की बाजी लगाई है। धन और जीवन की आकांक्षा उपभोग के लिए की जाती है। लेकिन उस मनुष्य के पास क्या है, जिसके पास धन और जीवन है, पर भूमि[1] नहीं है? भूमि को इस प्रकार महत्त्व देना स्वाभाविक ही है जब कि अर्थव्यवस्था लगभग पूर्णतया कृषि-संचालित ही थी।

श्रम की महत्ता का वर्णन भी शुक्र ने बहुत बल देकर किया है, क्योंकि कर्म ही सुगति और दुर्गति का कारण है। पूर्वजन्म में किये गये कार्य भी कर्म हैं, भला कौन एक क्षण के लिये कर्म के बिना रह सकता है।[2] निःसन्देह कर्मयोग या कर्म का सिद्धान्त मूलतः श्रम की महत्ता को ही लेकर चलता है और सम्भवतः इसका मूल सन्देश भी यही है, गीता के अनुसार वास्तविक 'योग' अपने कार्य की कुशलता है।[3] योगः कर्मसु कौशलम्। संस्कृत की यह सूक्ति कि 'स्वेद' के बिना 'स्वाद' नहीं होता एवं श्रम के बिना विश्राम नहीं होता[4], इसी विचारधारा की द्योतक है।

श्रम की इसी महत्ता के फलस्वरूप जनसंख्या के आधिक्य का कोई भय इस

---

1. उपभोगाय च धनं जीवितं न सुरक्षितम्।
न रक्षिता तु भूमिर्न किं तस्य धन जीविते॥ (शुक्रनीति एक, 359, 60)
2. कर्मेव कारणं चात्र सुगति दुर्गति प्रति।
कर्मेव प्राक्तनमपि क्षणं कि वोढ्वीस्ति चाक्रियः। (शुक्रनीति एक 37)
3. नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो हि कर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ (गीता 3/8)
कर्मर्णेव हि संसिद्धिर्मास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥ (गीता 3/20)
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्। (गीता 2/50)
4. स्वादो नैव बिना स्वेदं विश्रामो न श्रमं बिना॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

काल के विद्वानों के लिए महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय नहीं था क्योंकि वे शायद मानते थे कि हर मनुष्य एक पेट के साथ दो हाथ लेकर पैदा होता है। वे जनसंख्या में प्राकृतिक रूप में वृद्धि होने के पक्ष में थे न कि उसकी वृद्धि के किन्हीं साधनों को रोकने के। वास्तव में प्रजा को ही लेकर तो सब कुछ था। निःसन्देह उन्हें इस बात का अवश्य ज्ञान था कि कुछ क्षेत्रों में धीरे-धीरे लोगों के अधिक बस जाने की समस्या हो सकती है और इसके लिये उन्होंने आन्तरिक परिवर्तनों द्वारा जनसंख्या को पुनर्वितरित करने तथा राजकीय सहायता से उपनिवेश बसाने की प्रस्तावना की। इसके अतिरिक्त उन्हें पूरे देश में सामान्य जनाधिक्य का कोई भय नहीं था और वे जनसंख्या की वृद्धि की नीति का अनुसरण करते थे।[1]

वणिक् अर्थशास्त्र

जैसा कि हम पहले ही बता आये हैं श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण के साथ-साथ इस युग तक आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार का पर्याप्त विकास हो चुका था। स्वभावतः इन विचारकों का ध्यान इस ओर भी आकर्षित हुआ और उन्होंने विनिमय के नियमों, मूल्य-निर्धारण एवं सम्बन्धित विषयों पर नीति निर्धारण हेतु अपने विचार प्रकट किये। हम ये भी पहले बता आये हैं कि विक्रेय वस्तु एवं व्यापार स्थान के आधार पर व्यापारियों का विभिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया गया था एवं व्यापारियों के अपने विभिन्न संगठन थे। इसका तात्पर्य यह है कि व्यापार काफी नियमित तथा संगठित रूप से सम्पन्न होता था। साथ ही राज्य द्वारा कई प्रकार के विधानों के माध्यम से व्यापार का नियन्त्रण किया जाता था। व्यापारी समाज का एक महत्त्वपूर्ण एवं उत्तरदायी अंग था और उसे हर सम्भव सुविधा तथा छूट दी जाती थी। परन्तु अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने पर उसके लिये दण्ड की भी व्यवस्था थी।[2]

---

1. प्रजायै गृहमेधिनाम् (कालिदास, रघुवंश, एक)
यात्रार्थं भोजनं येषां संतानाय च मैथुनम्।
वाक्सत्यवचनार्थं च दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥
(महा० बारह, अ० 110, श्लोक 23)
अपत्यार्थं स्त्रियः सृष्ठाः (नारद स्मृति बारह, 19)
2. प्रकाशवंचकास्तेषां नानापण्योपजीविनः।
प्रच्छन्नवंचकास्त्वेते ये स्तैनाशविकादियः।। (मनस्मृति नौ, 257)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विनिमय के लिये अनेक प्रकार के नियम इन विचारकों द्वारा निर्धारित किये गये। नारद एवं बृहस्पति ने विक्रेता तथा क्रेता दोनों के हितों के संरक्षण के लिये अनेक विधान बनाये। नारद के अनुसार यदि किसी वस्तु को खरीद लेने के पश्चात, क्रेता यह समझता है कि वह धोखा खा गया है तो उसी दिन उस वस्तु को उसी दशा में वापस कर सकता है और कीमत वापस ले सकता है। यदि वह दूसरे दिन उसे वापस करना चाहे तो मूल्य का तीसवाँ भाग उसे वापस नहीं मिलेगा। तीसरे दिन वह पन्द्रहवाँ भाग खो बैठेगा और चौथे दिन या उसके बाद वस्तु वापस नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त क्रेता वस्तु खरीदने से पहले उसकी परीक्षा कर सकते हैं पर इस प्रकार परीक्षण के पश्चात् लिया गया माल फिर वापस नहीं किया जा सकता। परीक्षण का समय वस्तु की प्रकृति पर निर्भर रहता है। उदाहरणार्थ दुधार, गाय के लिये तीन दिन, बोझ ढोने वाले जानवरों के लिये पाँच दिन और बहुमूल्य पत्थरों के लिये सात दिन आदि।[1]

परन्तु मनुष्यों (दासों) का परीक्षण आधे मास तक, स्त्रियों का एक मास तक, अनाज का दस दिन तथा लोहा या कपड़ों का एक दिन में होना चाहिए[2]। इसी प्रकार के नियम बृहस्पति द्वारा भी बनाये गये हैं।[3] वंचना तथा बेईमानी भी प्रचलित थी। यहाँ तक कि 'ऐसा वणिक् जो बेईमान न हो, स्वर्णकार जो चोर न हो, दरबारी जो लालची न हो, बड़ी कठिनाई से मिल सकते हैं।[4] इसी-लिये नारद ने व्यापारियों के लिये यह विधान बनाया कि वे न्यायोचित मूल्य लें जो कि वस्तु एवं स्थान के अनुसार भिन्न-भिन्न होगा और वंचकतापूर्ण सौदों का व्यवहार न करें[5]। मनु का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति लाभोपार्जन के उद्देश्य से किसी वर्जित वस्तु का निर्यात करता है तो वह नियमानुसार राजदण्ड का भागी होगा और उसकी सम्पत्ति राज्य द्वारा छीन ली जायेगी।[6] इससे यह स्पष्ट आभास मिलता है कि ये विचारक उन्मुक्त व्यापार के सिद्धान्त में विश्वास

---

1. नारद स्मृति नौ, 2 से 5।
2. नारद स्मृति नौ, 6,7
3. बृहस्पति स्मृति अट्ठारह, 3,4,7,9
4. मृच्छकटिक पाँच, 11,144,145
5. नारद स्मृति आठ, 11,12
6. राज्ञः प्रख्यातभांडांनि प्रतिषिद्धानि यानि च।
   तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृप ॥ (मनु० 8-399)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नहीं करते थे, बल्कि अर्थ तंत्र के हित में संरक्षण एवं नियन्त्रण लगाना आवश्यक समझते थे।

मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में इन विचारकों के ग्रन्थों में उपयोगिता, दुर्लभता एवं उत्पादन व्यय के सिद्धान्तों का सम्मिश्रण मिलता है। शुक्र के अनुसार (1) किसी वस्तु को प्राप्त करने को दिया गया, (द्रव्य) उसका मूल्य है। (2) वस्तुओं का मूल्य उनको उपलब्ध करने में होने वाली कठिनाई के अनुसार और (3) उनकी उपयोगिता के अनुसार निर्धारित होता है।[1] ऐसी वस्तुएँ जिनका कोई उपयोग नहीं होगा निर्मूल्य होती हैं, अतः किसी वस्तु का मूल्य होने के लिये उसमें उपयोगिता का होना आवश्यक है।[2] परन्तु उपयोगिता ही पर्याप्त नहीं है। वे वस्तुएँ जो दुर्लभ हैं, ऊँचा मूल्य रखती हैं।[3] सरकार एवं व्यापारियों के लिये मूल्य निर्धारण का विधान प्रस्तुत करते हुए शुक्र का कहना है कि मूल्य का निर्धारण देश एवं काल का विचार करते हुए करना चाहिए। प्रो० आयंगर ने तो इन कथनों के आधार पर माँग की लोच की धारणा का भी विश्लेषण किया है।[4] वास्तव में शुक्र के 'सुलभासुलभत्वात्' तथा 'अगुणता गुणसंश्रयः के आधार पर इस प्रकार की धारणा का विकास किया जा सकता है। मनु का विचार है कि हर पाँच रात्रि या कम से कम 15 दिन के बाद हर विपणीय वस्तु का मूल्य सरकार को निर्धारित करना चाहिये और ऐसे मूल्य निर्धारण में निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिये। वस्तु स्रोत और निर्दिष्ट स्थान समयावधि जब तक वह भण्डार में रही है, मध्यस्थ का अपेक्षित लाभ एवं उनको प्राप्त करने में अभी तक हुआ व्यय।[5] इसी प्रकार का विचार हमें याज्ञवल्क्य में भी मिलता

---

1. येन व्ययेन संसिद्धः तद्व्ययस्तस्यमूल्यकम् ॥
   सुलभासुलभत्वात् च अगुणत्व गुणसंश्रये।
   यथाकामात् पदार्थानाम् अर्थहीनाधिकं भवेत् ॥
   (शुक्रनीति दो 11,717,719)
2. न मूल्यं गुणहीनस्य व्यवहाराक्षमस्य च। (वही दो, 209)
3. रत्नभूतं तु तत् स्यात् यद्यदप्रतिमं भुवि ॥ (वही चार, दो 207)
4. आयंगर, उद्धृत ग्रंथः, पृष्ठ 72।
5. आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ।
   विचार्य सर्वं पण्यानां कारयेत् क्रय-विक्रयौ ॥ (मनु आठ 401)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है[1]। शुक्राचार्य अकाल तथा खाद्यान्नों की कमी तथा तदनुसार मूल्य के बढ़ने से भली-भाँति परिचित थे और इसी स्थिति का सामना करने के लिये उन्होंने खाद्यान्नों के सुरक्षित भण्डार (बफर स्टाक) की व्यवस्था की[2]। यह एक प्रकार से खाद्यान्नों की आकस्मिक कमी को पूरा करने तथा उनके मूल्यों के स्थिरीकरण की नीति थी जो आज भी मान्य एवं प्रचलित है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि विनिमय तथा व्यापार को सम्पन्न करने के लिये द्रव्य का प्रचुर रूप से उपयोग होता था। स्वर्ण एवं रजत तथा अन्य धातुओं के विभिन्न मूल्य के सिक्कों का विस्तृत विवरण हमें धर्मशास्त्रों तथा अन्य ग्रन्थों में मिलता है। इसके अलावा माप एवं तौल के सम्बन्ध में भी इन विचारकों ने विभिन्न विधान प्रस्तुत किये हैं।

श्रमिक विधान

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं श्रम का स्थान उत्पादन के साधनों में महत्त्वपूर्ण था। जहाँ एक ओर इन विचारकों ने श्रमिकों से अधिकतम कार्य लेने तथा आलस्य या कामचोरी के अवसरों पर उन्हें दण्ड देने का विधान बनाया वहाँ दूसरी ओर श्रम को एक मानवीय साधन मानते हुए श्रमिकों के हितों तथा संरक्षण के लिये भी विधान बनाये थे। मजदूरी के सम्बन्ध में जहाँ एक ओर कार्यक्षमता तथा योग्यता पर बल दिया गया है, वहीं दूसरी ओर इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि यह मजदूरी श्रमिक एवं उसके परिवार का अच्छी तरह से पालन करने के लिये पर्याप्त होनी चाहिये। शुक्र के अनुसार कम मजदूरी पाने वाले श्रमिक स्वभावतः शत्रु तथा चोर हो जाते हैं।[3] घरेलू नौकरों के लिये शुक्राचार ने दिन में तीन घंटे तथा रात्रि में नौ घंटे के अवकाश की व्यवस्था

---

1. पण्यस्योपरि संस्थाप्य व्ययं पथसमुद्भवम् ।
   अर्घोऽनुग्रहकृत्कार्यः क्रेतुः विक्रेतुरेव च ।। (या० स्मृ० दो 253)
2. धान्यानां संग्रहः कार्यो वत्सरत्रय पूर्तिदः ।
   तत्त्काले स्वराष्ट्राय नृपेणात्महिताय च ।।
   (शु० चार दो 11,50,51)
3. ये भृत्या हीनभृतिकाः शमवस्ते स्वयं कृताः ।
   परस्य साधकास्ते तुच्छिद्रकोश प्रजाहराः ।।
   (शुक्रनीति दो 11, 807, 8)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

की है। पाँच वर्ष कार्य कर लेने के पश्चात् किसी सेवक को तीन महीने का वेतन बोनस के रूप में दिया जाना चाहिये तथा अधिक दिन तक बीमार रहने पर छः महीने का वेतन दिया जाना चाहिये। एक वर्ष तक कार्य करने के बाद शुक्र ने एक पक्ष के सवेतन अवकाश की, चालीस वर्ष तक राजकीय सेवा करने के बाद वेतन का अर्धांश पेन्शन की तथा ऐसे व्यक्ति की विधवा पत्नी और अवयस्क बच्चों के लिये वेतन का अष्टांश सहायता रूप में देने की व्यवस्था की है, जिसकी कार्यकाल में ही मृत्यु हो जाती हैं।[1]

मज़दूरी के निर्धारण के सम्बन्ध में शुक्राचार्य ने कार्यानुसार तथा समयानुसार दोनों प्रकार की विधियों का उल्लेख किया है। समयानुसार मज़दूरी दैनिक, मासिक तथा वार्षिक आधार पर दी जा सकती है। कार्यानुसार मज़दूरी श्रमिक के कार्य की गति एवं उत्पादन के आधार पर दी जाती है[2]। परन्तु मुख्य बल इस बात पर दिया गया है कि मज़दूरी श्रमिक की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त हो। इसलिये शुक्राचार्य का कथन है कि ऐसी मज़दूरी जो केवल एक ही व्यक्ति की भोजन की आवश्यकताएँ सन्तुष्ट करने भर को पर्याप्त है, न्यून मज़दूरी है, जिससे एक व्यक्ति की सभी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं, वह मध्यम मज़दूरी है और जिनसे पूरे परिवार की आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं, वह श्रेष्ठ मज़दूरी है[3]। इसके अलावा यदि कार्य गुरुतर हो और इसलिये श्रमिक

---

1. भृत्यानां गृहकृत्यार्थं दिवायाम् समुत्सृजेत्।
निशि यामत्रयं नित्यं दिन भृत्यर्धयामकम्॥
तैभय कार्य कारयीत ह्युत्सवाद्यैर्विना नृपः।
'अत्यावश्यं तृत्सवेऽपि हित्वा श्राद्धि दिनं सदा॥
पादहीना भृत्यं त्वार्ते दयात् त्रैमासिकीततः।
पंचवत्सरभृत्येतु न्यूनाधिक्यं यथा तथा॥ आदि, आदि।
(शुक्रनीति दो 11, 815:35)

2. वत्सरे वत्सरे वापि मासि मासि दिने दिने।
एतावती भृतिस्तेऽहं दास्यामीति च कालिका॥
एतावता कार्यमिदं काले नापित्वया कृतम्।
भृतिमेतावतीं दास्ये कार्यकाल मिता च सा॥ (शुक्र० 2/390)

3. परिवारपोष्याभृतिः श्रेष्ठासमान्नच्छवनार्थिका।
भवेदेकस्य भरणाय भृति सा हीन संज्ञिका ॥ (शुक्रनीति 2/389)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

असन्तुष्ट होकर कोई विवाद उठाये तो इससे उनकी मज़दूरी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।[1] इसी प्रकार मनु के अनुसार यदि कोई श्रमिक अस्वस्थ हो और स्वस्थ हो जाने पर कार्य सम्पन्न करने लगे तो वह सदा की भाँति मज़दूरी का अधिकारी होगा।[2] चाहे वह जितनी लम्बी अवधि तक ही अस्वस्थ क्यों न रहा हो। इस प्रकार इन विचारकों ने प्रामाणिक मज़दूरी (गारेन्टीड वेज़) का विधान बनाया था।

राज्य तथा आर्थिक व्यवस्था

राज्य द्वारा अर्थ-व्यवस्था में हस्तक्षेप, संरक्षण, निरीक्षण तथा अधिकार के बारे में हम पहले ही कह चुके हैं। यहाँ पर हम मुख्यतया राजकीय आय और व्यय के कुछ तथ्यों का संक्षिप्त विवरण देंगे। हमारे विचारकों के अनुसार राजकोष राजा तथा राज्य का मूल है, इसी पर पूरे राज्य की आधारशिला खड़ी है। कामन्दक, मनु, शुक्र, एवं व्यास सभी इस विचार का समर्थन करते हैं। महाभारत में राजकोष की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि इस कोष का घट जाना राज्य के महान् दुर्भाग्यों में से एक है[3]।

अर्थात् राजा की शक्ति कोष पर निर्भर है और कोष का क्षय होना शक्ति के क्षय होने के समान है। राजकोष की पूर्ति के लिए राजकीय व्यवसाय के अतिरिक्त मुख्य साधन करारोपण ही था। यद्यपि इन विचारकों ने विभिन्न प्रकार के करों का विधान बनाया है पर अत्यधिक कर लगाने वाले राजा का उन्होंने बहिष्कार करने की राय दी[4] है जिससे यह पता चलता है कि इन लोगों का विचार जहाँ

---

1. न कुर्याद् भृतिलोपं तु तथा भृतिविलम्बनम्।
   अवश्यपोष्यभरणा भृतिर्मध्या प्रकीर्तिता ॥ (शुक्र 2/389)
2. आर्त्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन् यथाभासितमादितः।
   स दीर्घस्यापिकालस्य तल्लभेत्तैव वेतनम् ॥ (मनु० 8/216)
3. कोषश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः।
   कोषमूलो हि राजानः कोषो वृद्धिकरो भवेत् ॥
   राज्ञः कोषबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम्।
   तन्मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः ॥ (शान्तिपर्व अ० 119)
   अशंकमानो वचनमनसुयुरिदं श्रृणु।
   राज्ञः कोषक्षयादेव जायते बल संक्षयः ॥ (शान्तिपर्व अ० 130)
4. महाभारत शान्तिपर्व (श्लोक ऊपर उद्धृत हैं)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

एक ओर कोष में अधिकतम द्रव्य जमा करने के पक्ष में वहाँ साथ ही जनता पर अत्यधिक कर लगाना भी वे उचित नहीं समझते थे। करों की बहुत-सी संख्या का अनुमान हमें महाभारत में स्पष्ट रूप से मिलता है।[1]

करारोपण के सम्बन्ध में हमें इन विचारकों के ग्रन्थों में न्यायसंगति तथा अधिकतम आय प्राप्ति पर बड़ा बल मिलता है। करों के अनिवार्य भुगतान होने का आभास हमें शुरू में स्पष्ट संकेत एवं यथेष्ट रूप में मिलता है जब वे कर की निम्न शब्दों में परिभाषा करते हैं। 'कर' राजा को देय है क्योंकि इसका भुगतान दैविक रूप से व्यवस्थित है, क्योंकि इसका मूल मौलिक संविदा में है और क्योंकि यह राज्य द्वारा सुरक्षा प्रदान किये जाने का मूल्य है[2]। राज्य न केवल सम्पत्ति पर ही कर लगाने का अधिकारी है, बल्कि सम्पत्तिहीन को भी अपने श्रम का एक भाग कर के रूप में देना पड़ेगा[3]। इन लोगों का यह भी विचार था कि जनता द्वारा किया गया वही भुगतान 'कर' कहा जा सकता है, जिसे राजा कल्याणकारी कार्यों में व्यय करे और विलासिता में नष्ट न कर डाले। यह बात ऐसे कथनों से स्पष्ट होती है, जिनमें राजा को केवल अच्छे कार्यों में व्यय करने के लिये अनुमति दी गयी है[4]। इसके अलावा हमें करारोपण के सम्बन्ध में बार-बार गाय के दुहने या मधु एकत्रित करने की उपमाएँ मिलती

---

1. विक्रयं क्रयमध्वानं भक्तं च सपरिच्छद।
   योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजा कारयेत् करान्॥
   उत्पत्ति दानवृत्ति च शिल्पं सम्प्रेक्ष्य चासकृत्।
   शिल्पं प्रतिकरानेवं शिल्पिनः प्रतिकारयेत्॥
   (शान्तिपर्व अ० 87)

2. स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः।
   ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा॥
   (शुक्रनीति एक 11, 374.76)

3. कारुकान् शिल्पिनश्चैव शूद्राश्चात्मोपजीविनः।
   एकैकं कारयेत् कर्म मासिमासि महीपतिः॥ (मनु० सात, 138)

4. काले चास्य व्ययं कुर्यात्, त्रिवर्गप्रतिपत्तये।
   (कामन्दकीय नीतिसार, 5, 86)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हैं[1]। इससे करारोपण के निम्न तीन सिद्धान्तों का स्पष्ट संकेत मिलता है—

(1) राजा को कर द्वारा अधिकतम आय प्राप्त करना चाहिये अर्थात् करारोपण इस प्रकार हो कि आय अधिकतम प्राप्त हो सके।

(2) प्रत्येक व्यक्ति से कर उसकी सामर्थ्य के अनुसार लिया जाये।

(3) कर ले लेने के पश्चात् भी करदाता की मौलिक स्थिति बनी रहे और उसके पनपने में कोई कठिनाई न हो।

करारोपण का मुख्य उद्देश्य जनता का कल्याण एवं संरक्षण है यह बात इससे और भी स्पष्ट हो जाती है कि इन विचारकों ने कर को कभी-कभी राजा द्वारा सार्वजनिक सेवक के रूप में किये गये कार्यों के वेतन मात्र के रूप में कहा है[2]। इस प्रकार इन विचारकों से हमें कर की वह परिभाषा नहीं मिलती, जिससे सारे 'मूल्य के वापस होने की अनिश्चितता' को करों का एक लक्षण माना जाता है। परन्तु इनका कथन यह भी नहीं था कर पूर्णतया एक मूल्य है और जो व्यक्ति जिस मात्रा में करदान करेगा उसी मात्रा में उसे राज्य से सुविधाएँ प्राप्त होंगी। इसके विपरीत उनका कथन तो यह है कि करारोपण सामर्थ्यानुसार हो पर इस बात का पूर्ण विश्वास हो कि इन करों को सार्वजनिक कल्याण के कार्यों में ही व्यय किया जायेगा। कोई राजकीय सेवक जिसने अवैध रूप से अधिक धन एकत्र कर लिया है, उससे कामन्दक के अनुसार न केवल इस प्रकार प्राप्त धन ही कर के रूप में ले लेना चाहिये बल्कि उसकी मौलिक सम्पत्ति का भी अपहरण कर लेना चाहिये[3]। अन्यथा करों के स्तर को अर्थव्यवस्था की प्रगति के साथ ही धीरे-धीरे ऊपर उठाना चाहिये करों की प्रगति इतनी मन्द हो कि कर-दाताओं को इसका कम से कम आभास हो और कर देने में कम से कम कष्ट हो[4]।

---

1. उदाहरणार्थः मधुदोहं दुहेद् राष्ट्रं भ्रमरा इव पादपम्।
वत्सापेक्षी दुहेचैव स्तनांश्च विकुट्टयेत्॥
(महाभारत, शान्तिपूर्व, अ० 87)

2. बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम्।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम्॥
(महाभारत बारह, अ० 71, श्लोक 10)

3. कामंदकीय नीतिसार पांच, 85

4. यथा मधुसमादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्यः आयद्यादवि हिंसया॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इसके विपरीत व्यवहार करना, स्वर्ण के फल प्रदान करने वाले पेड़ को काटने के समान होगा। महाभारत की यह उक्ति कि करारोपण उचित स्थान, उचित समय एवं उचित रूप में तथा कष्टरहित विधि से किया जाये,[1] एडम स्मिथ के विचारों की भविष्यवाणी करती मालूम पड़ती है। मनु के अनुसार ऐसे लोग जिनके पास अपनी आजीविका के ही लिये पर्याप्त साधन नहीं हों, उन्हें कर से मुक्त कर देना चाहिये[2]।

पर करारोपण का उद्देश्य क्या हो? जैसा कि बता दिया गया है करों का उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण माना गया था। यह इन विचारकों द्वारा दी गई परिभाषा से ही मालूम पड़ता है। परन्तु इसके अतिरिक्त उनका यह विचार था कि व्यक्तिगत हाथों से यदि धन कर के रूप में इकट्ठा करके राज्य द्वारा संगठित एवं व्यवस्थित रूप से व्यय किया गया हो तो करदान से हुई हानि की अपेक्षा इन व्ययों से हुए लाभ कई गुना अधिक होंगे और लाभों को तथा सुखों को कई गुना करना ही राज्य के द्वारा करारोपण का ध्येय होना चाहिये। कालिदास के अनुसार राजा सूर्य के समान है जो पृथ्वी से जल कणों का शोषण करता हैं पर उसका केवल एक ही उद्देश्य रहता है कि उसे सहस्र गुना करके पृथ्वी को लौटा दें[3]। मनु इसी सन्दर्भ में राजा की तुलना सूर्य एवं इन्द्र से करते हैं। जैसे सूर्य की किरणें वर्ष के आठ महीनों में बिन्दुओं का संचय करती रहती हैं पर इन्द्र चार महीने के अन्दर उसे धरती को वर्षा के रूप में दे देते हैं, उसी प्रकार राजा को धीरे-धीरे करों का संचय करना चाहिये और आवश्यकता के समय उचित मात्रा में प्रजा के लिये उनको व्यय करना चाहिये। राजा को व्यय किस प्रकार तथा किन-किन विषयों पर करना चाहिये

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्।
मालाकार इवारामे न यथांगारकारकः॥

1. न चास्थाने न चाकाले करांस्तेभ्यो निपात्येत्।
आनुपूर्व्येण सान्त्वेन यथाकालं यथाविधि॥
(महाभारत शान्तिपर्व अ० 88)

2. अन्धो जड़ः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः।
श्रोत्रियेसूपकुर्वश्च न दाप्या केनचिद्करम्॥ (मनु 8/394)

3. रघुवंश एक 18

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इस सम्बन्ध में शुक्र का कथन उद्धरणीय है 'ग्राम की आय का बारहवाँ भाग ग्राम के प्रधान को मिलेगा, सैनिक व्यय के लिये 3/12 भाग रक्खा जायेगा, 1/24 भाग दान में तथा 1/24 भाग जनता पर व्यय किया जायेगा। इतना ही राज्याधिकारियों तथा राजा के व्यक्तिगत व्यय के लिये दिया जायेगा। शेष कोष में जमा रहेगा। अपनी आय को इस प्रकार छः भागों में बाँट कर राजा को हर वर्ष का व्यय निर्धारित करना चाहिये[1]।" इसका हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि राजा के अपव्ययी होने पर प्रजा उसे त्याग दे सकती थी। कोष में सुरक्षित यह शेषांश प्रजा के संरक्षण एवं पालन के लिये ही रक्खा रहता था।

1. ग्रामस्य द्वादशांशेन ग्रामपान्सं वियोजयेत् ।
त्रिभिरबलं धार्यं दानमर्धांशकेन च ।।
अर्धांशेन प्रकृतयोरर्धांशेनाधिकारिणः ।
अर्धांशेनात्रंगोत्रस्य कोषांशेन च रक्ष्यते ।।
आयस्यैवं षड्विभागैर्व्ययं कुर्यात्तु वत्सरे ।। (शुक्रनीति एक, 315. 17)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का प्रादुर्भाव हो चुका था, पर कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' इस समस्या पर बल देते हुए भी केवल आर्थिक विश्लेषण व नीतियों तक ही सीमित नहीं है। 'अर्थशास्त्र' में राजतंत्र के सभी पहलुओं पर विचार मिलते हैं।

वेदोत्तरकालीन भारत राजनैतिक अस्थिरता से ग्रसित रहा है। कुछ ही शताब्दियों में अनेक वंशों—मौर्य, शुंग, कुषाण और गुप्त—के राज्य आये और समाप्त हुए। इस काल में अर्थ-प्रधान ग्रन्थों का अभाव मिलता है। जहाँ कहीं भी भौतिकवाद का उल्लेख मिलता है वह कौटिल्य तथा अन्य विचारकों की विचारधारा के खंडन-मंडन के संदर्भ में ही मिलता है। पहले की ही तरह इस काल में भी उत्पादन का महत्त्व सर्वाधिक था।

आशा है कि यह पुस्तक इतिहास, अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र के विद्यार्थियों एवं सामान्य पाठकों का अपनी विषयवस्तु के सम्बन्ध में ज्ञानवर्धन करेगी और इस जटिल विषय के समझने में उपयोगी सिद्ध होगी।

●

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लोकभारती द्वारा प्रकाशित
कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें

• • •

- प्राचीन भारतीय अभिलेख
  डॉ० भगवतशरण उपाध्याय
- विश्व सभ्यता का इतिहास
  डॉ० उदय नारायण राय
- गुप्त राजवंश तथा उसका युग
  डॉ० उदय नारायण राय
- गुप्त सम्राट और उनका काल
  डॉ० उदय नारायण राय
- महाभारतकालीन समाज
  सुखमय भट्टाचार्य
- Studies in Ancient Indian History and Culture — Dr. U. N. Roy
- Salabhanjika [In Art, Philosophy and Literature] — Dr. U. N. Roy

•

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal